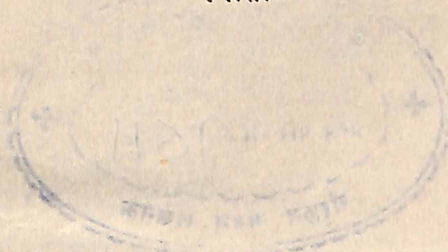
संस्कृत काव्य शास्त्र मे तात्पर्य
एवं
व्यञ्जना शक्ति - एक विवेचन

डॉ० दामोदर राम त्रिपाठी

संस्कृत काव्यशास्त्र में तात्पर्य एवं व्यञ्जनाशक्ति–एक विवेचन

डॉ० दामोदर राम त्रिपाठी
रीडर, संस्कृत-विभाग
कुमायूँ विश्वविद्यालय
नैनीताल



१९८८

प्रकाशक :
डॉ० लल्लन प्रसाद जायसवाल
संस्कृत-विभाग
डी० ए० वी० डिग्री कालेज,
वाराणसी–२२१००१

मूल्य : ४० रु०

मुद्रक :
सुदर्शन मुद्रक
६३/४२, उत्तर बेनिया बाग,
वाराणसी–२२१००१
फोन : ६५७१८

विषय-सूची

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

संक्षेप-सूची

अ०—अध्याय
अव०—अवलोक
आ०—आनन
उ०—उल्लास, उद्योत
ऋ० भा० भू०—ऋग्वेदभाष्यभूमिका
का०—कारिका
का० अ० सू०—काव्यालंकारसूत्र
का० प्र०—काव्यप्रकाश
का० मी०—काव्यमीमांसा
काव्या०—काव्यादर्श
का० सू०—काव्यालंकारसूत्र
च०—चतुर्थ
तृ०—तृतीय
द्वि०—द्वितीय
ध्वन्या०—ध्वन्यालोक
ना० शा०—नाट्यशास्त्र
नि०—निरूपण
न्या० द०—न्यायदर्शन
न्या० र० मा०—न्यायरत्नमाला
न्या० सि० मु०—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
न्या० सि० मु० श० ख०—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली शब्द खण्ड
प०—परिच्छेद
पं०—पंचम
पृ०—पृष्ठ
प्र०—प्रथम, प्रकाश
प्रक०—प्रकरण
ब्र०—ब्रह्म

म० भ० पस्प०—महाभाष्य पस्पशाह्निक
लो०—लोचन
व० जी०—वक्रोक्तिजीवित
वा० प०—वाक्यपदीय
वि—विमर्श
वै० भू० सा—वैयाकरणभूषणसार
वै० सि० ल० म०—वैयाकरणसिद्धान्त लघुमञ्जूषा
वृ०—वृत्ति
वृ० वा०—वृत्तिवार्तिक
वृ० मा०—वृत्तिमात्रिक
शा० दी०—शास्त्रदीपिका
श्लो० वा०—श्लोकवार्तिक
सा० द०—साहित्यदर्पण
सा० मी०—साहित्य मीमांसा
सू०—सूत्र
स्फो० नि०—स्फोटनिरूपण

भूमिका

भारतीय दार्शनिकों ने अर्थावबोध-प्रक्रिया में शब्दशक्तियों का विशेष महत्त्व स्वीकार किया है। शब्द से अर्थविशेष की प्रतिपत्ति हेतु वृत्तिज्ञान की कारणता स्वीकार की गयी है। वृत्तिज्ञान-सहकृत शब्द ही अर्थविशेष का प्रतिपादक होता है। जिस प्रकार दाह के प्रति अग्नि की स्वरूपतः कारणता मानी जाती है उसी प्रकार की स्थिति, शब्द की सम्भव नहीं हो सकती है। वृत्ति-बोध्य अर्थ ही शाब्दबोध का विषय हो सकता है। इस स्थिति में काव्यशास्त्रीय विद्वानों ने रमणीयार्थ के बोध हेतु वृत्तिविशेष की आवश्यकता पर बल दिया। काव्य के जीवातुभूत तत्त्व को भी शाब्दबोध का ही विषय माना गया। रसादिरूप चमत्कारा-धायक तत्त्व की प्रतीति भी शब्दों के माध्यम से ही सम्भव होती है।

इस सम्बन्ध में सबसे अधिक कठिनाई यह थी कि साहित्यशास्त्र से भिन्न शास्त्रों में रसादिरूप अर्थ का अभाव होने से तत्तच्छास्त्रकारों ने किसी ऐसी वृत्ति का प्रतिपादन नहीं किया जो चमत्कारभूत तत्त्व की बोधिका हो। फलस्वरूप साहित्यशास्त्रियों को इस वृत्तिविशेष की स्थापना हेतु शास्त्रान्तर से जो सामग्री मिली उसे स्वानुरूप बनाने में निश्चय ही विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ा।

भारतीय शास्त्रों में विशेष रूप से व्याकरण, न्याय एवं मीमांसा में शब्द-शक्ति-विषयक सिद्धान्तों का विस्तार से निरूपण उपलब्ध होता है। प्रतीयमान रूप काव्यार्थ की प्रतीति हेतु इन्हीं शास्त्रों में स्वीकृत मार्ग का अवलम्बन काव्य-शास्त्रियों ने भी स्वीकार किया। ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्द-वर्धन ने व्याकरणशास्त्रीय स्फोट-सिद्धान्त को आधार मानकर साहित्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धान्त एवं व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना की। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त के व्याकरणशास्त्रसम्मत होने के फलस्वरूप इसकी प्रामाणिकता एवं ग्राह्यता में परवर्ती समीक्षकों ने किसी भी प्रकार का विरोध नहीं मुखरित किया। ध्वन्यालोक की रचना के साथ सम्पूर्ण शास्त्रीय उपादानों में ध्वनिसिद्धान्त एवं व्यञ्जना-व्यापार की सत्ता समाविष्ट कर दी गयी। इस सम्बन्ध में आचार्य मम्मट का

योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने साहित्यशास्त्र के समस्त तत्त्वों-गुण, रस, अलङ्कार एवं दोषादिक का निरूपण ध्वनिसिद्धान्त एवं व्यञ्जनावृत्ति के परिप्रेक्ष्य में ही निरूपित करने का प्रयास किया है।

स्फोटसिद्धान्त पर आधारित इस ध्वनिसिद्धान्त के विरोध में न्याय एवं मीमांसा-दर्शन की चिन्तन-धाराओं से प्रभावित समीक्षकों ने अपने मतों को उत्स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। न्यायदर्शन के सिद्धान्त से प्रभावित काव्यशास्त्रियों ने व्यञ्जनावृत्ति-बोध्य अर्थ को अनुमान प्रमाण में अन्तर्भूत करके व्यञ्जना की अनुपादेयता को प्रमाणित करने का प्रयास किया। इसी प्रकार मीमांसाशास्त्र के अनुयायी काव्यशास्त्रीय समीक्षकों ने व्यञ्जनावृत्ति के स्थान पर तात्पर्यवृत्ति को मान्यता प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। इन विद्वानों के व्यञ्जनाविरोध का सबसे प्रमुख कारण यह था कि जिस स्फोट-सिद्धान्त पर व्यञ्जनावृत्ति एवं ध्वनिसिद्धान्त आधारित माना गया वह सर्वसम्मत नहीं है। मीमांसक एवं नैयायिक वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त को नहीं स्वीकार करते हैं।

काव्यशास्त्र में तात्पर्यवृत्ति की उपादेयता अन्वयांशरूप वाक्यार्थबोध के साथ रमणीयार्थप्रतीति के लिये विवेचित की गयी है। इस स्थिति में व्याकरण, न्याय एवं मीमांसादर्शन सम्मत वाक्यार्थस्वरूप पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

वैयाकरण अभिधावृत्ति को ही मान्यता प्रदान करते हैं। इनके अनुसार वाक्यार्थबोध की प्रतिपादिका अभिधावृत्ति है। ये पदार्थव्यतिरिक्त वाक्यार्थरूप संसर्ग की प्रतीति हेतु अभिधा के अतिरिक्त वृत्त्यन्तर को मान्यता नहीं प्रदान करते हैं।

वाक्यार्थ में अपूर्वत्व की उपपत्ति के लिए इसे पदार्थों से व्यतिरिक्त मानना आवश्यक हो जाता है। यदि पदार्थरूप ही वाक्यार्थ माना जाय तो इसकी अपूर्वता समाप्त हो जायेगी। यही कारण है कि वाक्यार्थ को पदार्थ से पृथक् माना गया है[1]। पदार्थों का परस्पर विशेष्यविशेषणभावरूप अन्वयविशेष ही वाक्यार्थ है। यदि प्रकृत्यर्थ में अवस्थित विशेषणता का अभिधान विभक्ति से ही स्वीकार कर लिया जाय तो विशेष्यतामात्र की वाक्यार्थरूपता उपपन्न होती है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी वाक्यार्थ को पदार्थों से पृथक् स्थापित किया है। इस सम्बन्ध में इन्होंने "राज्ञः पुरुषः" इस उदाहरण को उपन्यस्त किया है।

---

१. यदत्राधिक्यं वाक्यार्थः सः। म० भा०

उक्त उदाहरण में इन्होंने यह स्पष्ट किया है कि 'पुरुष' पद में प्रातिपदिकार्थ व्यतिरिक्त विशेष्यरूप अर्थ की अवस्थिति होने से यहाँ प्रथमा विभक्ति की उपपत्ति सम्भव न हो सकेगी। इस आपत्ति को निराकृत करते हुए यह कहा है कि यहाँ विशेष्य रूप अर्थ पदार्थ न होकर वाक्यार्थ है। इस प्रकार पतञ्जलि वाक्यार्थ को पदार्थ से पृथक् मानते हैं। विषयता को शब्दशक्तिजन्य माना गया है।[1]

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस विशेष्यत्वरूप अर्थ को वाक्यार्थ माना गया है वह वाक्य में अवस्थित पदों का अर्थ न होने से शक्तिग्रह का विषय नहीं बन सकता। यदि उसे वाक्यघटक पदों का ही अर्थ स्वीकार कर लिया जाय तो इस स्थिति में वाक्यार्थ की अपूर्वता का उपपादन सम्भव न हो सकेगा। इस सन्देह को निराकृत करने हेतु वाक्यार्थ में शक्तिग्रह की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। प्रयोज्यप्रयोजकवृद्धव्यवहार से मन के द्वारा वाक्यार्थ में शक्तिग्रह सम्भव हो जाता है। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति वाक्य से ही सम्भव है। अतएव व्यवहार से सर्वप्रथम शक्तिग्रह वाक्य में ही सम्भव है।

उपदेश से भी वाक्य का वाक्यार्थ में शक्तिग्रह सम्भव हो जाता है। इस वाक्य का यह वाक्यार्थ है यही उपदेश का स्वरूप माना जायेगा।

अन्वयांशरूप वाक्यार्थ की प्रतीति हेतु आकांक्षाज्ञान की भी कारणता स्वीकार की गयी है। जिस पुरुष को पहले हरिद्रा शब्द का शक्तिग्रह 'नदी' रूप शब्द के विशेषणरूप में अज्ञात है, वह पुरुष "हरिद्रायां नद्यां घोषः" इस वाक्य में नदी पद के समभिव्याहार से हरिद्रा शब्द का नदी पद के साथ सम्बन्धज्ञान करने में समर्थ हो जाता है।

वाक्यार्थ को पदार्थ से पृथक् मान लेने पर यह सन्देह उत्पन्न होता है कि क्या मात्र वाक्यार्थसंसर्ग की प्रतीति सम्भव है? इस सन्देह को समाहित करते हुए यह कहा गया है कि वाक्यार्थरूप सम्बन्ध सम्बन्धी के अधीन रहता है। सम्बन्धी के बिना सम्बन्ध का भान सम्भव ही नहीं है। फलस्वरूप पदार्थ के बिना वाक्यार्थरूप संसर्ग बोध का विषय नहीं बन सकता है।

कहीं-कहीं पर संसर्गांश की प्रतीति पद से भी सम्भव हो जाती है। जहाँ पर मात्र 'प्रविश' पद का उच्चारण किया जाता है, वहाँ पर इसी पद से गृहकर्मक प्रवेशन-रूप अर्थ की प्रतीति हो जाती है। "गृहं प्रविश" इस समुदाय में विद्यमान शक्ति की कल्पना "प्रविश" इस पद में ही सम्भव हो जाती है।

१. महाभाष्य। २–१–१।

इस उदाहरण से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि वैयाकरण संसर्गांश की प्रतीति अभिधा से ही करते हैं। उक्त उदाहरण में पदमात्र के प्रयोग से संसर्गरूप अर्थ की प्रतीति हो रही है। यहाँ पर अभिधा से अतिरिक्त वृत्त्यन्तर की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

व्याकरण में अखण्डवाक्य एवं अखण्डवाक्यार्थ को ही पारमार्थिक रूप से सत्य माना गया है। वाक्य में पद-पदार्थ, पद में प्रकृति-प्रत्ययादिक की कल्पना काल्पनिक ही है। वैयाकरण अखण्डवाक्य से अखण्डवाक्यार्थ के बोध हेतु अभिधावृत्ति को ही स्वीकार करते हैं।

नागेशभट्ट ने वाक्यार्थ को प्रतिभामात्र का विषय माना है। प्रतिभा के बल से असत्यपदार्थ वाक्यार्थ की प्रतीति कराने में समर्थ हो जाते हैं। इन्होंने प्रतिभा को ही वाक्यार्थ माना है। प्रतिभा को अन्तःकरण की वृत्तिविशेषरूपा मानने पर वाक्यार्थ को प्रतिभा का विषय कहना उचित होगा, न कि वाक्यार्थ प्रतिभा है, यह कहना। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वाक्यार्थ प्रतिभा का विषय होने से इसके लिये प्रतिभा-वाक्यार्थ-व्यवहार उपपन्न माना जायेगा।

प्रतिभा ही असम्बद्ध पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध की स्थापना करती है। संस्कारविशेषरूपा प्रतिभा के बल से वाक्यार्थबोध होता है। प्रतिभा अखण्ड है अतएव वाक्यार्थ की भी अखण्डता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार वैयाकरण वाक्यार्थ को अखण्ड मानते हैं।

वैयाकरणों के वाक्यार्थविषयक सिद्धान्त की पर्यालोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये संसर्गांश की प्रतीति हेतु तात्पर्य नामक वृत्त्यन्तर की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते हैं। अखण्डवाक्य से अखण्डवाक्यार्थ की प्रतीति अभिधावृत्ति द्वारा ही सम्भव हो जाती है। पदार्थ-प्रतीति के अनन्तर पदार्थों का पारस्परिक संसर्गरूप वाक्यार्थ समभिव्याहाररूपा आकांक्षा से ही बोध का विषय बन जाता है।

न्यायदर्शन के अनुसार पदार्थों का पारस्परिक संसर्गरूप वाक्यार्थ वृत्तिबोध्य न होकर आकांक्षा से भासित होता है। ये संसर्गरूप अर्थ में पदों की शक्ति नहीं स्वीकार करते हैं। इनका यह सिद्धान्त है कि पदार्थों के पारस्परिक संसर्ग की प्रतीति समभिव्याहार से ही सम्भव हो जाती है तदर्थ पदों में शक्तिकल्पना औचित्यपूर्ण नहीं है। नैयायिकों की यह मान्यता है कि प्रकारता एवं विशेष्यता से प्रविष्ट

ज्ञान ही वृत्तिबोध्य होता है। पदार्थद्वयविषयक संसर्गबोध में प्रकारता एवं विशेष्यता का भान न होने से इसे वृत्तिज्ञानजन्य नहीं माना जा सकता है।

पदार्थद्वयसंसर्ग की प्रतीति में वृत्तिज्ञान की कारणता न स्वीकार करने पर यह दोष उपस्थित होता है कि किसी नियामकविशेष के न होने से एक ही स्थान पर अनेक संसर्गों की प्रतीति होने लगेगी। 'नीलो घटः' इस वाक्य में अभेदसंसर्ग की प्रतीति के साथ इतर संसर्गों की भी प्रतीति होगी। इस सम्बन्ध में नैयायिकों का यह कहना है कि अभेदसंसर्ग की प्रतीति के प्रति नील एवं घट पद के समभिव्याहार को कारण मान लेने पर अबाधित संसर्ग की प्रतीति नहीं हो सकेगी।

"ब्राह्मणस्य दर्शनम्" इस प्रयोग में समभिव्याहाररूपा आकांक्षा से ही अन्वयबोध मानने में बाधा उपस्थित होती है। यहाँ कर्ता एवं कर्म इन दोनों अर्थों में षष्ठी का विधान सम्भव है। समभिव्याहाररूपा आकांक्षा के एक होने से कर्मत्व एवं कर्तृत्व-रूप संसर्ग की प्रतीति हेतु सर्वथा विनिगमक का अभाव उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार के स्थलों में आकांक्षाज्ञानसहकृत तात्पर्यज्ञान की भी कारणता स्वीकार कर ली जाती है। तात्पर्य के नियामक प्रकरणादिक माने जाते हैं।

यहाँ पर यह सन्देह उपस्थापित किया जा सकता है कि उपस्थित पदार्थ में ही तात्पर्य निर्णायक होता है। पदार्थ की उपस्थिति वृत्तिज्ञानाधीन ही सम्भव है। इस स्थिति में 'ब्राह्मणस्य दर्शनम्' इस स्थल में संसर्गविशेष की उपस्थिति वृत्तिज्ञानाधीन न होने से यहाँ तात्पर्य को निर्णायक नहीं माना जा सकता है। इसका समाधान करते हुए यह कहा जा सकता है कि उक्त प्रयोग में तात्पर्य के प्रति प्रकरणादिक को उद्बोधक मान लेने पर संसर्ग की वृत्तिज्ञानाधीन उपस्थिति आवश्यक नहीं है।

इस प्रकार न्यायदर्शन के अनुसार भी संसर्गरूप वाक्यार्थ की प्रतीति हेतु तात्पर्यवृत्ति की आवश्यकता नहीं स्वीकार की जा सकती है।

वाक्यार्थसंसर्ग के सम्बन्ध में मीमांसादर्शन में प्रमुख रूप से दो प्रकार की चिन्तनधाराएँ उपलब्ध होती हैं। ये दोनों अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद शब्द से अभिहित की जाती हैं। प्रथम विचारधारा के पोषक कुमारिलभट्ट एवं इनके अनुयायी हैं। द्वितीय पक्ष के समर्थक प्रभाकर हैं।

अभिहितान्वयवाद के अनुसार पदों से पदार्थ का अभिधान अभिधावृत्ति द्वारा होता है। संसर्गात्मक वाक्यार्थ वृत्तिबोध्य न होकर आकांक्षा से ही भासित माना

जाता है। आशय यह है कि पदों के पौर्वापर्यरूप वाक्यसामर्थ्य से ही अन्वयांश की प्रतिपत्ति हो जाती है, तदर्थ वृत्तिविशेष की कल्पना आवश्यक नहीं है।

"वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति नः स्थितिः" इस कारिका के अनुसार पदार्थों की संसर्गरूप वाक्यार्थ में लक्षणा मानी जाती है। पद में विद्यमान शक्ति पदार्थ की प्रतीति कराने में ही उपक्षीण हो जाती है। अतएव पदार्थ की वाक्यार्थ में लक्षणा करके अन्वयरूप संसर्ग की प्रतीति की जाती है।

यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि लक्षणा सम्बन्धमूलिका मानी जाती है। पदार्थ-प्रतीति के समय संसर्गात्मक वाक्यार्थ के उपस्थित न होने से यहाँ पर लक्षणा वृत्ति की उत्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती। इस आपत्ति के परिहार हेतु सम्बन्धसामान्य को शक्य मानना आवश्यक होगा। सम्बन्धसामान्य के उपस्थित होने पर आकांक्षादि सहकारियों से पदार्थ की अन्वयविशेषरूप वाक्यार्थ में लक्षणा सम्भव हो सकेगी। इस प्रकार अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के अनुसार संसर्ग की प्रतीति पदों से न होकर पदार्थों से होती है। इनकी इस वाक्यार्थविषयक मान्यता से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि ये संसर्ग को लक्षणा-वृत्तिबोध्य अथवा आकांक्षाभास्य मानते हैं।

अन्विताभिधानवादी मीमांसक पदों में स्मारिका एवं आनुभविकी ये दो प्रकार की शक्ति स्वीकार करते हैं। स्मारिका शक्ति से पदार्थोपस्थिति तथा आनुभविकी शक्ति से अन्वितार्थबोध-रूप कार्य सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार इनके अनुसार अभिधावृत्ति से वाक्यार्थ की प्रतीति सम्भव हो जाती है। वाक्यार्थबोध-हेतु ये वृत्त्यन्तर की अपेक्षा नहीं रखते हैं।

वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में व्याकरण, न्याय एवं मीमांसादर्शन के मतों की पर्यालोचना से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि किसी भी दार्शनिक ने अन्वयरूप संसर्ग की प्रतीति हेतु तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख नहीं किया है। इस स्थिति में वाक्यार्थ-बोधिका तात्पर्यवृत्ति की सत्ता में सन्देह उपस्थित हो जाता है।

इसी वाक्यार्थबोधिका वृत्ति को स्वानुरूप बनाकर तात्पर्यवादी साहित्य-शास्त्रियों ने इसे व्यञ्जना के समकक्ष स्थापित करने का प्रयास किया है।

मीमांसक तात्पर्यनिर्णय के प्रति उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति को कारण मानते हैं। अपौरुषेय वैदिक वाक्यों में परस्पर-संगति के लिये तात्पर्यवृत्ति अपेक्षित होगी। वहाँ पर तात्पर्य का वक्तृविवक्षित

अर्थ नहीं हो सकता है। इसी प्रकार अर्थवादवाक्यों में भी तात्पर्यवृत्ति मानने पर ही अर्थ की उपपत्ति सम्भव होती है।

शबरस्वामी ने भी यह माना है कि पद पदार्थ की प्रतीति कराकर निवृत्त-व्यापार हो जाते हैं। पदार्थों की प्रतीति होने पर उन्हीं से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। यहां पर पदार्थ तात्पर्यवृत्ति से वाक्यार्थ-बोधन कराने में प्रवृत्त होते हैं यह अभिप्राय स्पष्ट होता है।

इसी वाक्यार्थबोधिका तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख काव्यशास्त्र में उपलब्ध होता है। जिस प्रकार व्यञ्जनावृत्ति का व्याकरणशास्त्र के किसी ग्रन्थ में उल्लेख न होने पर भी इसका मूलस्रोत व्याकरणशास्त्र माना जाता है उसी प्रकार की स्थिति तात्पर्यवृत्ति की भी है। नागेशभट्ट ने अपनी कृति वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा में जो व्यञ्जनावृत्ति का विवेचन किया है वह काव्यशास्त्र से प्रभावित जान पड़ता है।

वैयाकरणों के ध्वनि एवं स्फोट में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध को देखकर काव्यशास्त्रियों ने व्यञ्जनाव्यापार को इसी सम्बन्ध पर आधारित मानकर इसे व्याकरणशास्त्रमूलिका' सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार की स्थिति तात्पर्यवृत्ति की भी है। मीमांसादर्शन में स्पष्ट रूप से तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख न होने पर भी इसे मीमांसाशास्त्रानुमोदित बताकर इसका अवतरण काव्यशास्त्र में किया गया। इस तथ्य को शोधप्रबन्ध में स्फुट करने का प्रयास किया गया है।

साहित्यशास्त्र में व्यञ्जनाविरोध एवं ध्वनिसिद्धान्त के उन्मूलन हेतु अनुमितिवाद का भी प्रवर्तन हुआ है। इस सम्बन्ध में आचार्य महिमभट्ट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक का' प्रमुख प्रतिपाद्य भी यही है। नैयायिक व्यङ्ग्यार्थ का अनुमान अथवा मानसबोध में अन्तर्भाव कर लेते हैं। न्यायशास्त्र के अनुसार अनुमान सभी प्रमाणों में मूर्धन्य है। अतएव व्यङ्ग्यार्थरूप चमत्कारा-धायक अर्थ की प्रतीति हेतु ये इसी प्रमाण का आश्रय लेते हैं। अनुमान प्रमाण में व्यञ्जनावृत्ति को अन्तर्भूत मानना उचित नहीं प्रतीत होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अनुमिति के लिये सद्हेतु अपेक्षित माना जाता है, किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के विषय में यह नियम ग्राह्य नहीं है। व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति असत् हेतु से भी सम्भव है। दूसरी बात यह है कि अनुमान प्रमाण से उत्पन्न प्रमा सभी प्रमाताओं को एक ही रूप में बोध का विषय बनाती है। व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति वक्तृ एवं बोद्धव्य के भेद से भिन्न-भिन्न होती है। एक ही 'गतोऽस्तमर्क:' वाक्य से प्रतीयमान व्यङ्ग्यार्थ बोद्धव्य के भेद से नानाप्रकार का माना जाता है। अनुमिति प्रमात्मिका

मानी जाती है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति ऐसी नहीं है। कभी-कभी व्यङ्ग्यार्थ अप्रमात्मक भी हो सकता है। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ का अन्तर्भाव अनुमिति में करके इसे अनुमान-प्रमाण-बोध्य नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ मानस प्रत्यक्ष का भी विषय नहीं माना जा सकता है। मानसप्रत्यक्ष को स्मरणात्मकरूप मानने पर उसे संस्कारजन्य मानना होगा। संस्कार अनुभवजन्य होता है। इस स्थिति में अनुभवक्रम से ही संस्कार का उद्‌बोध होगा इस विषय में किसी नियामक के न होने से प्रथम अनुभूत का बाद में तथा पश्चात् अनुभूत का पूर्व में प्रत्यक्ष होगा। इस स्थिति में व्यङ्ग्यार्थ को मानसबोध का विषय मानना युक्तिसंगत नहीं है।

काव्य में चमत्काराधायक तत्त्व की प्रतीति हेतु व्यञ्जना के समकक्ष तात्पर्यवृत्ति को ही उपयोगिनी माना जा सकता है। व्यङ्ग्यार्थ को शाब्दबोध का ही विषय माना जाता है। अतएव इसके ज्ञान हेतु वृत्ति को ही कारणता उचित प्रतीत होती है। अनुमान की शैली कर्कश होती है। उसमें नीरसता का साम्राज्य दिखाई पड़ता है। सरस काव्यक्षेत्र में उसकी अवतारणा उचित नहीं है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वप्रथम काव्यशास्त्र के विविध प्रस्थानों का संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि सभी आचार्य किसी न किसी रूप में रमणीयार्थ की सत्ता को निश्चितरूप से स्वीकार करते हैं। आचार्य भरत से लेकर विश्वेश्वर पाण्डेय तक के सम्पूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ इसके निदर्शन हैं। व्यञ्जना एवं तात्पर्यवृत्तियों के स्वरूप की मीमांसा के पूर्व अभिधा एवं लक्षणा का अतिसंक्षिप्त निरूपण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। तात्पर्यवृत्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए व्यञ्जना के साथ इसकी समीक्षा को प्रमुख प्रतिपाद्य बनाया गया है।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ डा० हरिनारायण दीक्षित (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग कुमायूँ विश्वविद्यालय) के निर्देशन में सम्पन्न किया गया है। ग्रन्थ को उपयोगी बनाने में मैं इनके परामर्शों के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ।

शोधग्रन्थ के प्रकाशक डा० लल्लन प्रसाद जायसवाल (संस्कृत-विभाग डी. ए. वी. डिग्री कालेज, वाराणसी) के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने समय से ग्रन्थ का प्रकाशन किया।

प्रथम अध्याय

संस्कृत काव्यशास्त्र का परिचय

भारतीय साहित्य में काव्यशास्त्रीय समालोचना का प्रादुर्भाव अतिपुरातन काल में हो गया था, किन्तु निश्चित प्रमाणों के अभाव में इसके प्रारम्भिक स्वरूप का निरूपण इतिहासकारों के लिये दुरुह विषय बना हुआ है। सबसे अधिक कठिनाई तो यह है कि इस सम्बन्ध में प्रायः सभी काव्यशास्त्री मौन से हैं। राजशेखर ने इस सम्बन्ध में दिव्य सिद्धान्त का आश्रय लेकर कुछ प्रकाश डालने का प्रयास किया है, किन्तु इनके कथन में कल्पना की ही प्रवणता दीख पड़ती है। इतना अवश्य है कि कम से कम इनका ध्यान साहित्यशास्त्र के उद्गम के विषय में केन्द्रित हुआ और इन्होंने इसके विषय में पौराणिक शैली में एक आख्यान प्रस्तुत किया।[1] इन्होंने काव्यशास्त्र की उत्पत्ति अलौकिक शक्तियों से दिखाकर इसकी दिव्यता की ओर संकेत किया है। एक तो इनका यह दिव्य सिद्धान्त आधुनिक समालोचक की दृष्टि के बाहर की वस्तु है, दूसरे इस तथ्य को अन्य किसी भी साहित्यशास्त्री ने पुष्ट भी नहीं किया है। अतः प्रामाणिकता के अभाव में इनका यह मत उपेक्षणीय सा प्रतीत होता है।

जिस प्रकार वाङ्मय की समस्त धाराओं की प्राचीनता उनके वेदाभिमत होने से ही सिद्ध की जाती है, उसी प्रकार साहित्यशास्त्र के तत्त्वों का अन्वेषण भी वेदों में किया जा सकता है। वेदों का साक्षात्प्रतिपाद्य काव्यशास्त्र नहीं है; अतः इनमें काव्यशास्त्रीय मान्यताओं को ढूंढ़ना और उनका उत्स वेदों को मानना निरर्थक है। इतना अवश्य है कि वैदिक ऋषि अपने प्रतिपाद्य को सुगम एवं रोचक बनाने के लिये अनेकत्र अलंकारादिक काव्यशास्त्रीय उपादानों का प्रयोग करते हैं, जिनके आधार पर इन उपादानों की वेद सम्मतता के साथ-साथ इनकी प्राचीनता भी सिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार अलंकारों में प्रमुख अलंकार उपमा का शास्त्रीय विवेचन निरुक्त में भी उपलब्ध होता है। पाणिनि ने अपने सूत्रों में भी काव्य-शास्त्रीय तत्त्वों का उल्लेख किया है।

---

१. राजशेखर, का० मी०, प्र० अध्याय, शास्त्रसंग्रहप्रकरण।

प्राग्भरत

यद्यपि आचार्य भरत से पूर्व के किसी भी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का स्वरूप नहीं उपलब्ध होता तथापि कतिपय प्रमाणों के आधार पर यह निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि नाटचशास्त्र की रचना के काफी पहले काव्यशास्त्र का विकास हो चुका था।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में पाराशर्य, शिलालि, कृशाश्व, कर्मन्द आदि आचार्यों का उल्लेख है। ये आचार्य नटसूत्र के प्रणेता माने गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि काव्यशास्त्र का विकास भरत से पूर्व हो चुका था।[1]

राजशेखर की काव्यमीमांसा में उल्लिखित सुवर्णनाभ एवं कुचुमार का निर्देश कामसूत्र में भी अनेकत्र किया गया है, जिससे इन दोनों नामों की ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। नन्दिकेश्वर का उल्लेख भरत ने भी किया है। इनकी किसी भी कृति का पता न होने पर भी अभिनवभारती के उन्नीसवें अध्याय में कीर्तिधर के साक्ष्य पर इनका आशय वर्णित किया गया है।[2]

भरत के नाटचशास्त्र में अनेक आचार्यों के नामों का उल्लेख मिलता है। रसों की संख्या का विवेचन करते समय ये महात्मा दुहिण का उल्लेख करते है।[3] महात्मा दुहिण के अतिरिक्त ब्रह्मा, सदाशिव, भरत, ब्रह्मभरत, वासुकि, आदिभरत आदि नाम भी यह संकेत करते हैं कि प्राग्भरत काव्यशास्त्र का पूर्ण विकास हो चुका था।

वैदिक साहित्य से लेकर पाणिनि तक के काल में अलंकारशास्त्र के मूलभूत तत्वों का विशकलित रूप तो देखने को मिल जाता है किन्तु काव्यशास्त्रीय समीक्षा से संवलित कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। वास्तविक रूप में काव्यशास्त्रीय समीक्षा का युग भरत से ही प्रारम्भ होता है।

---

१. (क) पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। अष्टाध्यायी ४।३।११०।
(ख) कर्मन्दकृशाश्वादिनिः। अष्टाध्यायी, ४।३।१११।

२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पी० वी० काणे, पृ० २।

३ इत्यष्टौ रसाः प्रोक्ता—द्रुहिणेन महात्मना। ना० शा०, अ० ६, श्लोक १६वें का प्रथम चरण।

भरत

भरत का "नाट्यशास्त्र" साहित्यशास्त्र का पहला ग्रन्थ है, जिसमें काव्यशास्त्र के उपादानों का उल्लेख समीक्षात्मक एवं विवेचनात्मक रूप में किया गया है। रस-सिद्धान्त पर सभी आचार्यों ने जो भी मीमांसा प्रस्तुत की है, सभी का केन्द्रबिन्दु इनका सुप्रसिद्ध सूत्र "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" रहा है। नाट्यशास्त्र से सम्बन्धित समस्त उपादेय सामग्रियों का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन होने के कारण इसे आकर—ग्रन्थ की संज्ञा दी जा सकती है। महाभारत की भाँति "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्" का सिद्धान्त इस विशाल रचना के लिये भी लागू होता है। अपने ग्रन्थ की महत्ता एवं व्यापकता के सम्बन्ध में स्वयं ग्रन्थकार ने ही परिचय दिया है।[1] ग्रन्थकार ने यद्यपि नाट्य की प्रशस्ति की है तथापि नाट्य में जो गुण हो सकते हैं, वे नाट्यशास्त्र में भी पाये जाते हैं।

आचार्य भरत के बाद लगभग पाँच-छः सौ वर्षों तक संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास अन्धकारावृत ही है। इस दीर्घ अन्तराल में निश्चय ही अनेक समीक्षक एवं उनकी कृतियाँ रही होंगी, किन्तु उनके सम्बन्ध में निश्चित जानकारी न होने के फलस्वरूप सुव्यवस्थित एवं प्रामाणिक रूपरेखा का प्रस्तुतीकरण कठिन सा है।

भामह

नाट्यशास्त्र के अनन्तर अलंकारशास्त्र में दूसरी रचना "काव्यालंकार" उपलब्ध होती है। नाट्यशास्त्र में काव्य के जिन गुण, अलंकार एवं दोष इत्यादि विषयों का विवेचन गौणरूप में किया गया था उनकी विशद व्याख्या इस ग्रन्थ में मिलती है। काव्यशास्त्र को स्वतन्त्र शास्त्र का दर्जा इसी ग्रन्थ से सर्वप्रथम प्राप्त हुआ है। इतना ही नहीं इसके रचयिता भामह ने काव्यशास्त्र को नाट्यशास्त्र से पृथक् अस्तित्व प्रदान कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। काव्यालंकार का विभाजन छः परिच्छेदों में करते हुए ग्रन्थकार ने काव्यशरीर, अलंकार दोष, न्यायनिर्णय तथा शब्दशुद्धि पर समुचित विचार प्रस्तुत किये हैं। काव्य-

---

१. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं, न सा विद्या न सा कला।

नासौ योगो न तत्कर्म, नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥—ना० शा०, १।११७।

शरीर में शब्दार्थ को समाविष्ट करते हुए इन्होंने काव्य के लिये शब्द एवं अर्थ दोनों की महत्ता समान रूप से स्वीकार की है ।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र में रस की विवेचना को देखकर भरत के परवर्ती भामहादिक आचार्य नाटकों को ही रस का क्षेत्र मानने लगे, साथ ही साथ काव्यक्षेत्र में इन्होंने रसस्थानीय अलंकारों की महत्ता स्वीकार करके उसी के निरूपण में अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग किया। भामह का काव्यालंकार भी इसी परम्परा के ग्रन्थों में गणनीय है। इसे अलंकार-प्रस्थान का प्रस्थापक माना जाय तो अत्यधिक समीचीन होगा।

दण्डी

सुप्रसिद्ध अलंकारशास्त्री दण्डी का काव्यादर्श भी अलंकार-सम्प्रदाय में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सप्तम शतक के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न हुए इस काव्यशास्त्री के काव्यादर्श पर काव्यालंकार का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है । भामह से प्रभावित होते हुए भी दण्डी भरत के प्रति श्रद्धावनत हैं। भरत के अनुसार ही इन्होंने दश गुणों को मान्यता प्रदान की है। अलंकारों के साथ-साथ गुणों के प्रति इनका सर्वाधिक अभिनिवेश है। यद्यपि भामह की भाँति इन्होंने अपनी रचना के नामकरण में अलंकार शब्द का प्रयोग नहीं किया है तथापि इनकी अलंकारप्रियता में मनागपि सन्देह नहीं किया जा सकता। काव्यादर्श की कुल ६६० कारिकाओं में से ४६१ कारिकाओं के प्रतिपाद्य विषय अलंकार ही हैं। ग्रन्थ का दो तिहाई भाग अलंकार-वर्णन में ही समाप्त हो जाता है।

रस के सम्बन्ध में दण्डी उदारवादी हैं। भामह काव्य में रसवत्ता स्वीकार करते हैं किन्तु वक्रोक्ति-विहीन सरस काव्य की काव्यता में भी सन्देह उत्पन्न कर देते हैं। काव्यादर्श में माधुर्य का स्वरूप रसवत्ता से पूर्ण माना गया है, साथ ही साथ वस्तु में भी रसस्थिति मानी गयी है ।[2] यह तो दूसरी बात है कि काव्य में अलंकार की सर्वोच्च सत्ता मानने वाले ये दोनों आचार्य रस को भी रसवत् अलंकार में ही परिगणित कर देते हैं।

अलंकार शास्त्र के क्षेत्र में दण्डी को भामह की अपेक्षा प्रसिद्धि भी अधिक मिली है। इसका मुख्य कारण यह है कि भामह का काव्यालंकार विद्वत्समाज को

---

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा। काव्या०, १ । १६ ।

२. मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः । काव्यादर्श- १।१५ ।

कठिनाई से प्राप्त हो सका जिसके फलस्वरूप एकमात्र अनुपलब्ध भामह-विवरण के अतिरिक्त इस पर दूसरी टीका नहीं लिखी गयी, इसके विपरीत काव्यादर्श पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं जिसके कारण इसका प्रचार-प्रसार अति शीघ्रता के साथ हो गया।

वामन

अलंकारशास्त्र की परम्परा में दण्डी के अनन्तर वामन का नाम उल्लेखनीय है। आठवीं शती के इस आचार्य ने सर्वप्रथम काव्यात्मा का अन्वेषण किया और विशिष्ट पदरचना रूप रीति को काव्य की आत्मा बताया।[१] इस शब्द को लेकर ही परवर्ती साहित्यशास्त्र में प्रास्थानिक वर्गीकरण का उद्भव हुआ।

अलंकार-सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों की भाँति वामन भी काव्य की उपादेयता के लिये अलंकारों को एक अतीव आवश्यक तत्त्व के रूप में मानते हैं।[२]

वामन के पूर्ववर्ती आलंकारिकों ने गुणों एवं अलंकारों को काव्य का शोभाधायक तत्त्व तो माना था किन्तु इनके पार्थक्य की ओर किसी भी समीक्षक ने दृष्टिक्षेप नहीं किया था। वामन ने भी अपनी पूर्ववर्ती परम्परा का समर्थन करते हुए दोनों को सौन्दर्याधायक तत्त्व तो माना किन्तु गुणों को नित्य एवं अन्तरंग सौन्दर्योत्पादक बताया तथा[३] अलंकारों को अनित्य एवं बाह्य। गुणों की स्थिति मात्र से काव्य-सौन्दर्य में अभिवृद्धि हो जाती है किन्तु मात्र अलंकारों की सत्ता से सौन्दर्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[४] इस प्रकार इनकी दृष्टि में काव्य सौन्दर्य विधान की दृष्टि से अलंकारों की अपेक्षा गुणों की उपयोगिता अधिक प्रतीत होती है।

वामन से पूर्व अलंकार-शास्त्र में रीतियों में वैदर्भी एवं गौड़ी की ही सत्ता स्वीकार की गयी थी किन्तु इन्होंने तीसरी पांचाली रीति का भी आविष्कार किया। इस आचार्य ने सौन्दर्य की दिशा को उन्मीषित भी किया। दण्डी ने पदावली को काव्यशरीर बताते हुए मात्र काव्यशरीर की ओर निर्देश किया था,

---

१. रीतिरात्मा काव्यस्य। का० अ० सू० १।२।५।

२. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। का० अ० सू० १।१।

३. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। का० अ० सू० ३।१।१।

४. तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। का० अ० सू०, ३।१।२।

वामन ने काव्यशरीर में रीति रूप आत्मतत्त्व की भी चर्चा की। निःसन्देह रीति-जनित काव्यसौन्दर्य इस समीक्षक को विशेषरूप से अभीष्ट जान पड़ता है। इतने पर भी ये अलंकारवाद से विशेष प्रभावित हैं। अलंकार शब्द को सौन्दर्य का पर्याय मानकर रीतिजनित सौन्दर्य के साथ-साथ अलंकार के संकुचित अर्थ उपमा, अनुप्रास इत्यादि से उत्पन्न सौन्दर्य को भी यह ग्राह्य बताते हैं। यदि ऐसी स्थिति न होती तो यह उपमादि अलंकारों को रीति के पोषक रूप में ही स्वीकार करते। इससे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि वामन रीति को काव्यात्मा मानते हुए भी अलंकार-सम्प्रदाय की मान्यताओं से अपने को पृथक् न रख सके।

गुणों के सम्बन्ध में वामन की मौलिक उद्भावनायें उल्लेखनीय हैं। दण्डी ने गुणों का मात्र दिशानिर्देश ही किया था, इन्होंने गुणों का स्फुट प्रतिपादन किया। गुणालंकारों का परस्पर भेद बताते हुए वामन ने उनकी स्पष्ट परिभाषा दी है।

उद्भट—

वामन के बाद अलंकार-शास्त्र में "उद्भट" का नाम आता है। विरोधी आचार्यों ने भी इनके लिये सम्मानजनक शब्दों का प्रयोग करते हुए इनके मतों को उद्धृत किया है, इसी से इनकी सर्वजनप्रियता के विषय में संकेत मिल जाता है।[1] नवम शतक के पूर्वार्द्ध में उत्पन्न हुए इस अलंकारशास्त्री की "कुमारसंभव काव्य", "भामहविवरण" एवं "काव्यालंकारसंग्रह" में से मात्र अन्तिम दो कृतियाँ उपलब्ध हैं। भामह के काव्यालंकार पर इन्होंने "भामहविवरण" नामक टीकाग्रन्थ लिखा था साथ ही अभिनवगुप्त के अनुसार भरत के नाट्यशास्त्र पर भी इनकी टीका के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। फलतः नाट्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र दोनों पर इनकी लेखनी ने अपना अधिकार स्थापित किया था।

उद्भट के काव्यालंकारसंग्रह पर भामह का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। अलंकार-प्रस्थान के समर्थक दोनों आचार्यों की रचनाओं में विवेच्य-विषयक समानताएँ हैं। इसका आशय यह नहीं है कि इनमें मौलिकता का अभाव है। इन्होंने अलंकारों में अनुप्रास अलंकार में वर्णों की मैत्री पर सूक्ष्म विचार प्रस्तुत करते हुए वृत्ति नामक एक नवीन तत्त्व की परिकल्पना की है।

---

१. अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः —ध्वन्या०।

रुद्रट

वामन के अनन्तर अलंकारशास्त्र में नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्थित आचार्य रुद्रट का नाम उल्लेखनीय है। रुद्रट का आविर्भाव ध्वनिसम्प्रदाय की स्थापना के पूर्व ही हो चुका था।[1] अतएव इनकी स्थिति नवम शताब्दी के प्रारम्भ में मानना उचित जान पड़ता है। इनकी एकमात्र कृति काव्यालंकार है, जो १६ अध्यायों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में रुद्रट ने अलंकारशास्त्र के समस्त तत्वों की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की है। नाट्यशास्त्रीय परम्परा से प्रभावित होने के फलस्वरूप रसविषयक निरूपण भी काव्यालंकार में उपलब्ध होता है। अलंकारसम्प्रदाय का विशेष प्रभाव होने से ये रससौन्दर्य का समावेश अलंकार-विधा में ही कर देते हैं।

रुद्रट अलंकारशास्त्र के अन्तिम आचार्य हैं। भामह, दण्डी एवं उद्भट द्वारा निरूपित अलंकारों का विस्तृत विवेचन इनकी कृति "काव्यालंकार" में उपलब्ध होता है। परवर्ती समीक्षकों ने रुद्रट का सादर स्मरण किया है।[2]

काव्यालंकार में श्रव्य एवं दृश्य दोनों विधाओं से सम्बन्धित तत्वों का वर्णन उपलब्ध होता है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ की उपादेयता जिस रूप में काव्यप्रकाशकार ने मानी है उसी रूप में दशरूपककार ने भी। इसका प्रमुख कारण यही है कि इसमें रस एवं अलंकारों के वर्णन के साथ ही साथ नाटक की वृत्तियों एवं नायक-नायिका भेद पर भी प्रकाश डाला गया है।

आनन्दवर्धन

अलंकारसम्प्रदाय के अन्तिम आचार्य रुद्रट के अनन्तर काव्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धान्त का उन्मीलन हुआ। ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्तक के रूप में आनन्दवर्धन साहित्यशास्त्र के प्रसिद्ध समीक्षक माने जाते हैं। वामन ने जिस काव्यात्मा पद को रीति शब्द से व्यपदिष्ट किया था, उसी को इन्होंने ध्वनि संज्ञा दी।[3]

---

१. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत शास्त्रों का इतिहास। तृ० प०, पृ० २०।

२. काकुवक्रोक्तिर्नामशब्दालंकारोऽयमिति रुद्रटः। का० मी०, अध्याय–७

३. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्॥ –ध्वन्या०, १/१

नवम शताब्दी के मध्य भाग में स्थित इस समालोचक द्वारा अन्वेषित ध्वनि-तत्त्व अनेक विरोधों के होते हुए भी सम्पूर्ण काव्यशास्त्र में एक नवीनतम सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

आनन्दवर्धन ने अपने पूर्ववर्ती सम्पूर्ण आचार्यों की चिन्तन-धाराओं पर विमर्श करते हुए काव्यात्मा के निरूपण की आवश्यकता का अनुभव किया। अलंकार-सम्प्रदाय के सभी आचार्य काव्यशरीर की मीमांसा तक ही सीमित रहे, आनन्द-वर्धन ने आत्मतत्त्व की समीक्षा को अपना प्रमुख उद्देश्य बताया। इसका आशय यह नहीं है कि ये पूर्ववर्ती अलंकारशास्त्र की मान्यताओं को नहीं मानते। काव्य-शरीर के सम्बन्ध में पूर्वलक्षणकारों की मान्यताएँ इन्हें स्वीकार हैं।[1] अतः उसके सम्बन्ध में पुनर्विवेचना की आवश्यकता का ये अनुभव भी नहीं करते।

आनन्दवर्धन ने काव्य में प्रतीयमान अर्थ की गवेषणा की और इसकी प्रतीति के लिए वैयाकरणों की स्फोट-कल्पना से सम्बन्धित व्यंजकत्व-व्यापार को माध्यम बताया। सौन्दर्य-बोध के लिये काव्यशास्त्र में व्यंजना नामक नूतन व्यापार की परिकल्पना का श्रेय भी इन्हीं को है।

व्यंजना-व्यापार को शब्दशास्त्रियों की स्फोट-परिकल्पना से सम्बन्धित बताकर आनन्दवर्धन ने साहित्यशास्त्र एवं व्याकरणशास्त्र में परस्पर सामंजस्य की भी स्थिति उत्पन्न कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि परवर्ती सभी काव्य-समीक्षक जो ध्वनिसिद्धान्त के समर्थक थे, वैयाकरणों के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए।

अभिनवगुप्त

आनन्दवर्धन ने जिस ध्वनितत्त्व का आविष्कार किया था उसकी विस्तृत समीक्षा अभिनवगुप्त ने की। ध्वनि-प्रस्थान का यह सौभाग्य था कि उसे अभिनव-गुप्त जैसे दार्शनिक का भी समर्थन मिला। इनका स्थिति काल दशम शताब्दी का अन्त एवं एकादश शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है।[2]

---

१. तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः,
काव्यलक्ष्मविधायिभिः।
ततो नेह प्रतन्यते ॥—ध्वन्या०, १/३

२. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, तृ० प०, पृ० २००।

अभिनवगुप्तको साहित्यशास्त्र का मेरुदण्ड माना जाता है। इनकी सैद्धान्तिक स्थापनाएँ इतनी लोकप्रिय हुई कि इनके आगे परवर्ती समीक्षकों ने ध्वन्यालोक को भुला सा दिया। रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का विवेचन इनकी नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती में उपलब्ध होता है। इनके इसी विवेचन के आधार पर परवर्ती समीक्षकों ने रससिद्धान्त के सम्बन्ध में विभिन्न वादों से परिचय प्राप्त किया है।

अभिनवगुप्त ने कव्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र में असाधारण वैदुष्य प्राप्त किया था। यही कारण है कि रस-प्रक्रिया के निरूपण में पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए ये अभिव्यक्तिवाद की स्थापना में पूर्ण सफल होते हैं। 'इस विपुल ज्ञानराशि को आत्मसात् करने के कारण ही वे रस-सिद्धान्त की समस्याओं का समाधान करने के लिये नये दृष्टिकोण तथा नयी साधन-विधि को अधिक स्पष्ट रूप से समझने एवं अपने सिद्धान्त की रचना में उसका उपयोग करने में पूर्णरूप में सक्षम थे।''[1] साहित्यशास्त्र में लोचन एवं अभिनवभारती इन टीकाओं के आधार पर ही इन्हें आचार्यत्व का गौरवपूर्ण पद प्रदान किया जाता है।

राजशेखर

दशम शताब्दी के प्रारम्भ में स्थित कवि, नाटककार एवं समीक्षक के रूप में प्रसिद्ध राजशेखर का भी नाम उल्लेखनीय है। साहित्यसमीक्षा-जगत् में इनकी ख्याति काव्यमीमांसा के कारण है।

काव्यमीमांसा ग्रन्थ १८ अध्यायों में विभक्त है। पूर्ववर्ती समस्त अलंकार-शास्त्र-विषयक ग्रन्थों से यह विलक्षण प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य कवि-शिक्षा है। प्रसंगतः गुण, रस एवं अलंकारों की भी चर्चा की गयी है।

काव्यमीमांसा में अनेक विषयों का वर्णन होने से इसकी उपादेयता पर्याप्त रूप से स्वीकार की जाती है। इसे विविध विषयों के सम्बन्ध में जानकारी देने वाला कोश भी कहा जाता है।[2]

---

१. डॉ० के० सी० पाण्डेय, स्वतन्त्र कलाशास्त्र, पृ० ११३।

२. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० २६३।

मुकुलभट्ट

अभिधा मात्र को शब्दशक्ति मानने वाले मुकुलभट्ट का काल नवम शताब्दी के अन्त तथा दशम के प्रारम्भ में माना जाता है।[१] अपनी एकमात्र कृति "अभिधावृत्तिमातृका" में इन्होंने सभी वृत्तियों का खण्डन करते हुए एक मात्र अभिधा को ही वृत्ति माना है। ये ध्वनि एवं व्यंजनाविरोधी आचार्य हैं। व्यंजना की बात दूर रही लक्षणा को ये अभिधा के अन्तर्गत ही समाहित करते हैं। अभिधावृत्ति के दस भेद इनकी कृति में उपलब्ध होते हैं।[२]

मुकुलभट्ट की प्रतिपादन-शैली विशेष गम्भीर है। अभिधावृत्तिमातृका में मात्र १५ कारिकायें हैं फिर भी इसमें पर्याप्त क्लिष्टता है। परवर्ती आचार्यों ने शब्दशक्तियों के निरूपण में इनका अनुसरण किया है। मम्मट के काव्यप्रकाश में अभिधादिवृत्तियों का निरूपण इसी ग्रन्थ के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

धनंजय

दशम शताब्दी में स्थित दशरूपककार धनंजय का काव्यसमीक्षकों में प्रमुख स्थान है। दशरूपक एक ओर तो भरत के नाट्यशास्त्र का प्रतिनिधित्व करता है तो दूसरी ओर आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिष्ठापित व्यंजना-व्यापार के स्थान पर तात्पर्यवृत्ति की स्थापना भी करता है।

दशरूपक का मुख्य रूप से प्रतिपाद्य नाट्यतत्त्व है किन्तु प्रसंगतः रस एवं ध्वनि के सम्बन्ध में भी इसमें मौलिक विचार प्रस्तुत किये गए हैं। वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त पर आधारित व्यंजनाव्यापार का प्रतिवाद इन्होंने तात्पर्यवृत्ति की स्थापना के द्वारा किया है। धनंजय ध्वनिविरोधी आचार्य हैं। ये ध्वनि को तात्पर्यार्थ से भिन्न नहीं मानते।

धनंजय अपने रससिद्धान्त को भट्टनायक की सरणि पर स्थापित करते हैं। भरतसूत्र के अन्तर्गत आये हुए संयोग शब्द का अर्थ भाव्यभावक सम्बन्ध बताते हैं। साधारणीकरण के सिद्धान्त को मानते हुए ये रसचर्वणा की स्थिति सामाजिक में ही मानते हैं।[३]

---

१. वही, पृ० २११।

२. इत्येतदभिधावृत्तं दशधाऽत्र विवेचितम्, अभिधावृत्तिमातृका, १३।

३. दशरूपक, च० प्र०, का०, ३८।

धनिक

दशरूपक पर अवलोक टीका की रचना करने वाले धनिक भी तात्पर्यवादी आचार्य हैं। ये धनंजय के ही भ्राता माने जाते हैं।[1] इन्होंने काव्यनिर्णय नामक एक मौलिक ग्रन्थ का भी निर्माण किया था। इस ग्रन्थ की उपलब्धि न होने पर भी अवलोक में इसकी कतिपय कारिकायें उद्धृत हैं। इससे ज्ञात होता है कि इसका प्रतिपाद्य ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन के साथ तात्पर्यवृत्ति का प्रतिष्ठापन ही था।

भट्टनायक

ध्वनिसिद्धान्त के विरोधियों में भट्टनायक भी प्रमुख आचार्य हैं। इन्होंने ध्वनिसिद्धान्त एवं व्यंजनाव्यापार दोनों की अनावश्यकता का प्रतिपादन करने के साथ ही काव्यशास्त्र में भावना-व्यापार की स्थापना पर बल दिया। इनका समय दशम शतक का मध्यकाल माना जाता है।[2]

भट्टनायक का एकमात्र ग्रन्थ हृदय-दर्पण ही है, परन्तु अभी तक साहित्य जगत् को इसकी उपलब्धि नहीं हो सकी है। इनके सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अभिनवभारती एवं लोचन टीकाओं से जानकारी प्राप्त होती है। अभिनवगुप्त ने इन्हें ध्वनिविरोधी मानते हुए इनकी विचारधाराओं को पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यस्त किया है। महिमभट्ट ने भी श्लेषभंगिमा के द्वारा दर्पण नामक कृति का उल्लेख किया है।[3]

भट्टनायक मीमांसाशास्त्र के प्रौढ़ विद्वान् हैं। मीमांसक होने के कारण ही इन्होंने व्यंजना-व्यापार के स्थान पर भावना-व्यापार को मान्यता दी है। इनकी युक्तियों के खण्डन में अभिनवगुप्त जैसे आचार्य भी पर्याप्त सफल नहीं प्रतीत होते।

कुन्तक

दशम शतक के अन्त एवं एकादश के प्रारम्भ में स्थित आचार्य कुन्तक की एकमात्र कृति "वक्रोक्तिजीवित" ही उपलब्ध होती है। ये ध्वनिसिद्धान्त के विरोधी हैं तथा काव्यात्मा के रूप में वक्रोक्ति को ही स्वीकार करते हैं।

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय-संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० २१२।

२. वही, पृ० २१४।

३. व्यक्तिविवेक, प्र० वि०, का० ४।

कुन्तक अभिधावादी समीक्षक हैं। इनके अनुसार मात्र वाचक शब्द की ही सत्ता सार्वत्रिक प्रतीत होती है। व्यंजक एवं लक्षक शब्दों का भी समावेश ये वाचकता में ही करते हैं।[१]

कुन्तक का वक्रोक्ति-सम्प्रदाय ध्वनिसिद्धान्त के विरोध में ही उत्थित जान पड़ता है। अंलकार-सम्प्रदाय को पुनरुज्जीवित करने हेतु तथा ध्वनिसिद्धान्त को प्रत्युत्तर देने के लिए ही काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति-सिद्धान्त की स्थापना हुई। इतने पर भी वक्रोक्तिकार अलंकारों को काव्य का सर्वस्व नहीं मानते।

महिमभट्ट

साहित्यशास्त्र की ध्वनिविरोधी परम्परा में न्याय-मतानुयायी महिमभट्ट का स्थितिकाल एकादश शताब्दी का आरम्भ भाग माना जाता है। इन्होंने अनुमान प्रक्रिया के द्वारा ध्वनि एवं व्यंजना को अन्तर्भावित करने का प्रयास किया है।[२]

इनकी एकमात्र कृति व्यक्तिविवेक है जिसमें तीन विमर्श हैं। मुख्य रूप से इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य प्रतीयमान की अनुमितिग्राह्यता सिद्ध करना है किन्तु इसके साथ ही साथ इसमें काव्य दोषों का भी विवेचन किया गया है।

महिमभट्ट भी काव्य में रमणीयार्थ की प्रतीति एवं काव्य की आत्मा रस मानते हैं किन्तु इसकी प्रतीति के लिए व्यंजना-व्यापार की आवश्यकता नहीं स्वीकार करते। व्याकरणमतानुयायी काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रतिष्ठित व्यंजना-व्यापार इस न्यायमतानुयायी समीक्षक को अभिमत भी कैसे हो सकता है?

संस्कृत काव्यशास्त्र में व्यक्तिविवेक के साथ ही न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति जागी। वृत्तियों की परिभाषा में न्यूनाधिक पदत्व इत्यादि पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। समीक्षाशास्त्र में अनुभूति के साथ तर्क का भी महत्त्व माना गया। इस दृष्टि से व्यक्तिविवेक का विशेष महत्त्व है।

क्षेमेन्द्र

काव्यशास्त्र में औचित्य-सम्प्रदाय के संस्थापक क्षेमेन्द्र का काल ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। विविध विषयों पर इनके ३३ ग्रन्थ उल्लि-

---

१. व० जी०, पृष्ठ १५।

२. व्यक्तिविवेक, १/१।

खित किए जाते हैं किन्तु इनमें कविकण्ठाभरण, सुवृत्ततिलक एवं औचित्यविचार-चर्चा ही काव्यशास्त्र-विषयक हैं।

क्षेमेन्द्र औचित्य को ही काव्यात्मा मानते हैं। उचित का भाव ही औचित्य है।[१] इनके अनुसार काव्य की आत्मा औचित्य है एवं औचित्य का जीवन रस है। अलंकार एवं गुण भी समुचित सन्निवेश के द्वारा ही काव्योपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।[२] जिस प्रकार लोक में अनौचित्य के कारण व्यक्ति परिहास का भाजन बनता है उसी प्रकार काव्य में कवि भी।[३]

क्षेमेन्द्र की औचित्य-सम्प्रदाय की स्थापना में मौलिकता का अभाव है। आनन्दवर्धन भी अनौचित्य को रसभंग का कारण मानते हैं।[४] औचित्य को काव्यशास्त्र का स्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

भोज

ग्यारहवीं शती के प्रथमार्द्ध में स्थित भोज में समन्वयवादी दृष्टिकोण की प्रमुखता लक्षित होती है। साहित्यशास्त्र में इनकी सरस्वतीकंठाभरण एवं शृङ्गार-प्रकाश ये दो कृतियाँ उपलब्ध होती हैं।

शब्दशक्तियों के सम्बन्ध में ये तात्पर्यवृत्ति की व्यापकता तो मानते हैं किन्तु ध्वनिसिद्धान्त का भी परित्याग नहीं करना चाहते। तात्पर्यवादी एवं ध्वनिवादी दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों से समझौता करना चाहते हैं। यह भोज का सौभाग्य था कि इन्हें दोनों प्रकार की विचार-धाराओं से पूर्ण परिचित होने का अवसर मिल सका। इनके काल तक ध्वनिसिद्धान्त पूर्ण प्रचारित हो गया था और उसके विरोध में उद्भावित तात्पर्यवृत्ति पूरी तरह से प्रकाश में आ चुकी थी।

---

१. उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।
औचित्यविचारचर्चा, का० ७ का उत्तरार्द्ध।

२. औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।
औचित्यविचारचर्चा, का० ५।

३. औचित्यविचारचर्चा, ६।

४. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥
ध्वन्या० तृ० उ०, वृत्तिभाग में उद्धृत।

मम्मट

ध्वनिसिद्धान्त के प्रमुखतम आचार्यों में ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्थित मम्मट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्हें एकमात्र काव्यप्रकाश के कारण काव्यशास्त्र में महनीय पद प्राप्त हुआ है।

आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त के द्वारा ध्वनिसिद्धान्त एवं व्यंजनाव्यापार की स्थापना मात्र हुई थी। मम्मट ने ध्वनिसिद्धान्त को काव्यशास्त्र के समस्त उपादानों से समन्वित करके इसे एक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। सूत्र-शैली में समस्त साहित्यशास्त्रीय तत्वों का एकत्र संकलन काव्यप्रकाश में उपलब्ध होता है। सूत्रात्मक शैली के कारण विषयों का संक्षिप्तीकरण तो हुआ है, किन्तु शैली स्वाभाविक रूप से दुरूह होने के कारण भावार्थ दुर्बोध हो जाता है। इस ग्रन्थ पर ७० टीकाओं का होना इसकी लोकप्रियता के साथ-साथ इसकी जटिलता पर भी प्रकाश डालता है।[१]

मम्मट ने पूर्ववर्ती काव्य—परम्परा का ही संकलन काव्यप्रकाश में किया है किन्तु विषयों के प्रस्तुतीकरण में अपने उद्‌भट पाण्डित्य को प्रकट किया है। ग्रन्थकार ने स्वयं भी अपनी कृति के अन्त में इस आशय को निर्दिष्ट किया है।[२]

विश्वनाथ

मम्मट के अनन्तर काव्यशास्त्र के समालोचकों में विश्वनाथ का उल्लेख करना समीचीन जान पड़ता है। यद्यपि मम्मट एवं विश्वनाथ के अन्तराल में अनेक आचार्यों की परम्परा उपलब्ध होती है किन्तु उनके सिद्धान्तों में पिष्टपेषण की प्रवृत्ति अधिकांश रूप में दृष्टिगत होने के कारण उनकी चर्चा लाभप्रद नहीं जान पड़ती। बारहवीं शताब्दी के आचार्य रुय्यक ने अपनी कृति "साहित्यमीमांसा" में व्यंजनाशक्ति का उल्लेख न करते हुए तात्पर्यवृत्ति को माना है[३] किन्तु इनकी अन्य कृतियों में व्यंजना का भी उल्लेख है।

विश्वनाथ का काल १३०० से १३५० ईस्वी का मध्य माना जाता है।[४] इनकी अनेक रचनाएँ उपलब्ध होती हैं किन्तु काव्यशास्त्र में इनकी प्रसिद्धि

---

१. बलदेव उपाध्याय-संस्कृतशास्त्रों का इतिहास; तृ० सं०, पृ० २२३।

२. काव्यप्रकाश, अन्तिम पद्य।

३. अपदार्थोऽपि वाक्यार्थो रसस्तात्पर्यवृत्तितः, सा० मी०, पृ० ८५।

४. बलदेव उपाध्याय—संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, तृ० सं०, पृ० २४९।

मात्र साहित्यदर्पण के ही कारण है। दृश्य एवं श्रव्य उभयविध काव्यतत्त्वों का निरूपण होने से इनका साहित्यदर्पण विशेष लोकप्रिय है।

यद्यपि साहित्यदर्पण शैली की दृष्टि से पर्याप्त श्लाघनीय है किन्तु मम्मट एवं आनन्दवर्धन की सरणि पर ही इसमें विषय-निरूपण होने से इसकी मौलिकता संदिग्ध है। कहीं-कहीं पर इन्होंने मम्मट पर भी दोषारोपण किये हैं। किन्तु उनमें गम्भीरता का अंश कम ही दृष्टिगोचर होता है।

तात्पर्यवृत्ति के सम्बन्ध में इनका दृष्टिकोण उदारवादी प्रतीत होता है। यद्यपि ये ध्वनिवादी आचार्य हैं किन्तु इन्होंने तात्पर्यवृत्ति को तुरीय वृत्ति कह कर एक तो उसकी निष्पक्ष रूपरेखा प्रस्तुत की है, दूसरे उसके सम्बन्ध में अपनी अर्द्ध-स्वीकृति भी प्रदान कर दी है।

शारदातनय

तेरहवीं शताब्दी के समीक्षक शारदातनय का ग्रन्थ भावप्रकाशन है। इन्होंने दशरूपक की भाँति अपने ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य नाट्यशास्त्र बनाया है। शब्द-शक्तियों के सम्बन्ध में ये भोजराज के मत का अनुगमन करते हैं। तात्पर्यवृत्ति का निरूपण इन्होंने भी किया है। इन्हें तात्पर्यरूप अभिधावादी आचार्य माना जा सकता है, क्योंकि ये अभिधा का ही नैरन्तर्य स्वीकार करते हैं।

अप्पयदीक्षित

अप्पयदीक्षित का अलंकारशास्त्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इनका काल १६वीं शताब्दी का अन्त एवं १७ वीं का प्रारम्भ माना जाता है।[1] ये प्रख्यात दार्शनिक एवं समालोचक हैं। जिस प्रकार इनकी लेखनी साहित्यशास्त्र में अबाधित है, उसी प्रकार इन्होंने दर्शन-शास्त्र पर साधिकार अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। साहित्यशास्त्र में इनकी चित्रमीमांसा, कुवलयानन्द एवं वृत्तिवार्तिक ये तीन कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। वृत्तिवार्तिक एवं चित्र-मीमांसा दोनों अपूर्ण ग्रन्थ है।

शब्दशक्तियों में अभिधा एवं लक्षणा का विवेचन वृत्तिवार्तिक में उपलब्ध होता है। मूल्यांकन की दृष्टि से इनकी कृतियों का समीक्षण करने पर इनमें मौलिकता की कमी दीख पड़ती है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इनके मतों की कटु आलोचना की है।

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय—संस्कृतशास्त्रों का इतिहास, तृ० सं०, पृ० २६२।

पण्डितराज जगन्नाथ

अलंकारशास्त्र के उद्भट समालोचक पण्डितराज जगन्नाथ हैं। ये शाहजहाँ के दरबार में राजपण्डित थे। अतः इनका स्थितिकाल १७ वीं शतब्दी का मध्यभाग माना जाता है। इन्होंने विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है, किन्तु अलंकारशास्त्र में इनकी ख्याति का आधार रसगंगाधर है।

पण्डितराज में असाधारण वैदुष्य के साथ कवित्व का भी समावेश था। रसगंगाधर के अधिकांश उदाहरण उनके रचित पद्यों के ही हैं।[1] इन्होंने अलंकारों के साथ रस एवं शब्दशक्तियों पर भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। सिद्धान्ततः ध्वनिसम्प्रदाय के समर्थक होते हुए भी ये शब्दशक्ति में अभिधा एवं लक्षणा का ही निरूपण करते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ की शैली नव्य न्याय पर आधारित होने के कारण स्वभावतः क्लिष्ट प्रतीत होती है किन्तु मम्मट जैसी सूत्र-शैली नहीं है। रसगंगाधर में विषय-विवेचन पर्याप्त स्पष्ट हुआ है। नव्य न्याय से प्रभावित होने के कारण किसी विषय की परिभाषा निबद्ध करते समय ये पदकृत्यों पर भी पूर्ण ध्यान रखते हैं। इसी विषय पर इन्होंने पूर्ववर्ती सभी मतों का परिष्कार किया है।

पण्डित विश्वेश्वर पाण्डेय

अलंकारशास्त्र के अन्तिम आचार्य पण्डित विश्वेश्वर पाण्डेय हैं। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्थित इस समीक्षक की विभिन्न शास्त्रों पर अनेक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। काव्यशास्त्र में अलंकार कौस्तुभ, अलंकारमुक्तावलि, अलंकारप्रदीप, रसचन्द्रिका एवं कवीन्द्रकंठाभरण इन पाँच कृतियों के रचयिता के रूप में इनका उल्लेख मिलता है।

शब्दशक्तियों के सम्बन्ध में ये अधिकांशतः पूर्ववर्ती आचार्यों की विचारधाराओं से सहमत जान पड़ते हैं। इन्होंने कुछ स्थलों पर पण्डितराज जगन्नाथ एवं अप्पयदीक्षित के मतों का खण्डन प्रस्तुत किया है।

काव्यशास्त्र के सम्प्रदाय

साहित्यशास्त्र के सभी आचार्यों ने काव्य में चमत्कार की सत्ता मानी है। इसी चमत्कार के कारण ही काव्य का इतर वाक्यों से वैलक्षण्य भी सिद्ध होता

१. रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ३।

है। काव्य में चमत्काराधायक तत्त्व की मीमांसा में सभी समीक्षक प्रवृत्त हुए जिसके फलस्वरूप उनके चिन्तन में वैविध्य भी उत्पन्न हुआ। सौन्दर्यबोध में तुल्य दृष्टि होने पर भी हेतुओं में परस्पर विभिन्नता का होना स्वाभाविक भी है। सबसे जटिल समस्या काव्यात्मा के विवेचन की थी। शब्दार्थरूप काव्यशरीर की सत्ता के लिए काव्यात्मा का अन्वेषण परम आवश्यक माना गया। इसी काव्यात्मा के निरूपण में विविध सम्प्रदायों का उद्भव हुआ। काव्य-समीक्षकों ने काव्यशास्त्र को ६ सम्प्रदायों में विभक्त किया है[1], जो इस प्रकार हैं—

(१) रससम्प्रदाय (२) अलंकारसम्प्रदाय (३) रीतिसम्प्रदाय (४) ध्वनिसम्प्रदाय (५) वक्रोक्तिसम्प्रदाय एवं (६) औचित्यसम्प्रदाय।

रससम्प्रदाय

काव्यशास्त्र में रससम्प्रदाय सर्वाधिक प्राचीन सम्प्रदाय है। राजशेखर के अनुसार नन्दिकेश्वर इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। किन्तु नन्दिकेश्वर की कोई भी लिखित सामग्री उपलब्ध न होने से इसका प्रवर्तक आचार्य भरत को ही माना जाता है। सर्वप्रथम भरत ने अपने नाटचशास्त्र में "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"—इस सूत्र के द्वारा रससिद्धान्त का निरूपण किया है। रससिद्धान्त के सम्बन्ध में परवर्ती सभी काव्यशास्त्रियों ने रससिद्धान्त निरूपण के सम्बन्ध में इसी सूत्र को आधार बताया है।

भरत के अनन्तर सभी आलंकारिकों ने काव्य में रस की सत्ता स्वीकार की। यह दूसरी बात है कि कतिपय काव्यशास्त्रियों ने इसका समावेश अलंकारों में करते हुए इसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं मानी है।

रस के सम्बन्ध में ध्वनिवादी एवं तात्पर्यवादी दोनों धाराओं के आचार्यों में ऐक्य दृष्टिगत होता है। ध्वनिवादियों ने रस को काव्यात्मारूप में प्रतिष्ठापित किया।[2] तात्पर्यवादी भी निरतिशय आनन्द की प्रतीति में रस की ही कारणता मानते है।

भरत ने रस-मीमांसा को सूत्ररूप में ही उपस्थापित किया था। परवर्ती व्याख्याकारों ने इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की है। अभिनवभारती में

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० १८–२७।

२. रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसे प्रति पर्यवस्येते, ध्वन्या, प्र० उ०, लोचनभाग।

लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक के रस-सम्बन्धी मतों का खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त ने स्वाभिमत सिद्धान्त की स्थापना की है। पण्डितराज जगन्नाथ ने रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में ११ आचार्यों के मतों का निर्देश किया है।[1] इस प्रकार आचार्य भरत द्वारा प्रवर्तित रससिद्धान्त व्याख्याभेद से अनेक मतों में विभक्त हो गया।

अलंकारसम्प्रदाय

काव्यशास्त्र में अलंकारसम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय भामह को है। भामह के पूर्व आचार्य भरत ने भी चार अलंकारों का निरूपण किया था किन्तु वे अलंकार मात्र नाटचशास्त्र की दृष्टि से ही उपयोगी थे। भामह ही सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य की दृष्टि से काव्यसर्वस्व के रूप में अलंकारों का चिन्तन प्रारम्भ किया। इनके अनुसार काव्य के मुख्य तत्त्व अलंकार ही हैं। यहाँ तक कि रस भी शोभाधायक तत्त्व तभी बन सकता है जब कि उसकी उपस्थापना अलंकृति तत्त्व के रूप में प्रस्तुत की गयी हो। रस का पृथक् अस्तित्व न मानते हुए इसे रसवत् अलंकार में समाहित किया गया है।

अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख समीक्षक भामह, उद्भट एवं दण्डी हैं। इन सभी आचार्यों ने अलंकारों की विवेचना प्रधान रूप में प्रस्तुत करते हुए अपनी कृतियों का नामकरण भी अलंकार शब्दपरक ही किया है।

रीतिसम्प्रदाय

रीतिसम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय आचार्य वामन को है। विशिष्ट पदरचना रूप रीति को काव्यात्मा कहकर इसकी प्रधानता का स्पष्ट संकेत वामन ने किया है। इनके अनुसार रीति के नियामक गुण ही हैं। काव्य में सौन्दर्याधान गुणों एवं अलंकारों के ही कारण होता है।[2] रीति के आश्रय गुण हैं, अतएव इस सम्प्रदाय को गुणसम्प्रदाय भी कहा जाता है।

वामन गौडी, वैदर्भी एवं पांचाली रीतियों में वैदर्भी की विशेष प्रशंसा करते हैं, और काव्य में इसी के प्रयोग पर बल देते हैं। इनके अनुसार वैदर्भी में

---

१. रसगंगाधर, पृ० २६–३४।

२. सौन्दर्यमलंकारः काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः, का० सू० वृ०।

समस्त गुणों का समाहार रहता है। गौडी एवं पांचाली में कतिपय गुण ही रहते हैं।[1]

रीतिसम्प्रदाय का शुद्ध विवेचन काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में ही उपलब्ध होता है। कतिपय समालोचकों ने दण्डी एवं भोज को भी इस सम्प्रदाय का समर्थक बताया है।

वक्रोक्तिसम्प्रदाय

वक्रोक्ति को काव्यात्मारूप में प्रतिष्ठापित करने वाले आचार्य राजानक कुन्तक हैं। इनके अनुसार भंगिमापूर्ण भणितिरूपा वक्रोक्ति के ही कारण काव्य-वाक्यों का वैलक्षण्य सिद्ध होता है।[2] वक्रतामय व्यापार से युक्त शब्दार्थ ही काव्य पद के अभिधेय बन सकते हैं।[3]

कुन्तक वक्रोक्ति के ही अन्तर्गत ध्वनि के समस्त भेदों को अन्तर्भूत करते हैं। वक्रोक्ति के मुख्य छः भेदों में ही समस्त ध्वनि-प्रपञ्च समाविष्ट हो जाता है।

परवर्ती काल में इस सम्प्रदाय को आचार्यों की सहमति न मिलने तथा वक्रोक्ति का अन्तर्भाव अलंकार-सामान्य में ही कर देने से यह सिद्धान्त अग्रसर न हो सका।

ध्वनिसम्प्रदाय

ध्वनिसम्प्रदाय की उद्भावना आनन्दवर्धन ने की है। आचार्य भरत के द्वारा जिस रस-सिद्धान्त की नाटचशास्त्र में चर्चा की गयी थी उसे इस ध्वनिवादी आचार्य ने काव्यशास्त्र में सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया। ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना के साथ काव्यों का पुनर्मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ।

आनन्दवर्धन ने काव्य में रमणीय अर्थ को ध्वनि शब्द से संज्ञित किया और उसकी प्रतीति के लिये व्यंजना नामक व्यापार की परिकल्पना की। यद्यपि इसके पूर्व के लक्षणकारों ने काव्य में रमणीयार्थ का अनुभव किया था किन्तु उन्होंने न

---

१. तासां पूर्वा ग्राह्या। गुणसाकल्यात्। न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात्।

—वही १, २, १४-१५।

२. काव्यालंकार, २।८५।

३. वही, १।८१।

तो इसे ध्वनि संज्ञा दी और न ही इसके बोधन के लिये व्यंजना-व्यापार की ही कल्पना की।

ध्वनिसम्प्रदाय रससिद्धान्त का ही परिष्कृत रूप प्रतीत होता है। वामन ने काव्यशास्त्र में आत्मा का अन्वेषण किया था। वामन के अनन्तर सभी आचार्य काव्यात्मा के निरूपण में ही प्रवृत्त हुए। आनन्दवर्धन ने इसी सन्दर्भ को अपनी दृष्टि में रखते हुए ध्वनि को काव्यात्मा कहा।

ध्वनि-सिद्धान्त के आविष्कार के पूर्व काव्यशास्त्र के समस्त तत्वों का पूर्ण विकास हो चुका था। अलंकार, गुण, रीति एवं रसतत्त्व काव्योपादान के रूप में मीमांसित हो चुके थे। आनन्दवर्द्धन ने इस पूर्वनिरुपित काव्यतत्त्व मीमांसा का भरपूर उपयोग किया।

ध्वनि-सिद्धान्त के समर्थक आचार्यों में अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ के नाम उल्लेखनीय हैं। इन काव्यशास्त्रियों ने व्यंजना-व्यापार की सिद्धि एवं काव्यशास्त्र के सभी तत्वों को ध्वनि-सिद्धान्त से समन्वित करते हुए इसके प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

औचित्यसम्प्रदाय

काव्यशास्त्र में औचित्यसम्प्रदाय की स्थापना क्षेमेन्द्र ने की है। इन्होंने औचित्य को ही काव्यात्मा के रूप में उद्घोषित किया। यद्यपि औचित्य के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी अपने विचार प्रस्तुत करते हुए इसकी आवश्यकता का अनुभव किया है[१] किन्तु इसे काव्यात्मा के रूप में सर्वप्रथम मान्यता क्षेमेन्द्र ने ही दी है। ये इस प्रस्थान के प्रवर्तक आचार्य हैं।

क्षेमेन्द्र काव्य की आत्मा रस मानते हैं तथा रस का जीवातु औचित्य बताते हैं।[२] औचित्य के २८ भेदों के अन्तर्गत गुण, अलंकार एवं रसादिगत औचित्य की ओर संकेत किया गया है, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण काव्यशास्त्रीय तत्त्व इसकी परिधि में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

---

१. अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥ —ध्वन्या०, ३।१५।

२. औचित्यविचारचर्चा, कारिका, ३।

परवर्ती काल में इस सम्प्रदाय के समर्थक आचार्यों का अभाव होने से काव्यशास्त्र में इसकी प्रतिष्ठा न हो सकी।

उपसंहार

साहित्यशास्त्र के सभी सम्प्रदाय काव्य में सौन्दर्य की सत्ता किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार करते हैं। समालोचकों का यह दृष्टिकोण है कि ध्वनि-सिद्धान्त के पूर्व काव्यशास्त्रीय समीक्षा बहिरंग तत्वों पर आधारित थी। आनन्दवर्धन ने ध्वनिरूप काव्यात्मा का अन्वेषण करके काव्यशास्त्र को अन्तरंगोन्मुखी बनाने में पूर्ण सहयोग प्रदान किया। इस सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण यह भी हो सकता है कि भरत ने जिस रसतत्त्व की मीमांसा की थी, उसे विवेचित समझ कर ही अलंकारशास्त्रियों ने उसकी उपेक्षा की थी, और उनका ध्यान शब्दार्थगत चमत्कार-समीक्षा की ओर ही केन्द्रित हुआ। आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्य काव्य में चमत्कार की स्थिति से पूर्ण परिचित प्रतीत होते हैं। काव्य में सौन्दर्य की सत्ता का अपलाप कोई नहीं करता।

द्वितीय अध्याय

संस्कृत काव्यशास्त्र की शब्दशक्तियों के प्रचलित स्वरूप

भारतीय दर्शन के प्रमाणवादी प्रायः सभी शास्त्रकार शब्द प्रमाण की महत्ता स्वीकार करते हैं। जहाँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों के निरूपण में प्रत्यक्षादि प्रमाण सामर्थ्यहीन हो जाते हैं वहाँ शब्द प्रमाण ही उपयोगी सिद्ध होता है।[1] काव्यकला अर्थाभिव्यक्ति के लिये शब्द को ही माध्यम बनाती है। कवि शब्दों के माध्यम से ही अपनी भावाभिव्यक्ति करने में समर्थ हो पाता है। यही कारण है कि शब्दार्थ स्वरूप काव्य की समीक्षा के लिये तत्पर काव्यशास्त्रियों ने शब्दार्थ-सम्बन्ध की मीमांसा को अपना प्रमुख विषय बनाया है एवं शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता स्वीकार की है।

भारतीय चिन्तकों ने शब्दार्थ-सम्बन्धी चिन्तन को दो धाराओं में विभाजित किया है। यदि वाक्य, पद एवं वर्ण सार्थक हैं तो इनसे अर्थ की प्रतीति कैसे होती है? वर्णों की निरर्थकता एवं पदों की सार्थकता मानने पर वाक्यार्थ-बोध किस रीति से होगा? वाक्यार्थ अखण्ड है, अथवा पद संसृष्ट है। शब्द का संकेतित अर्थ क्या है? ये सम्पूर्ण विवेचन प्रथम धारा के अन्तर्गत आते हैं। व्याकरण, मीमांसा एवं न्यायदर्शन में इस चिन्तनधारा को पूर्ण प्रतिष्ठा मिली है। दूसरी ओर शब्दार्थ-सम्बन्ध पर विमर्श किया गया है। शब्द से अर्थ की प्रतीति सम्बन्धमूलिका है। यह सार्वजनीन अनुभव है कि शब्द-श्रवण के अनन्तर अर्थविशेष का ज्ञान होता है। इस अनुभव के आधार पर ही शब्दार्थ-सम्बन्ध की सत्ता मानकर उसके उपपादन हेतु अनेक विचारधाराओं का उद्गम हुआ।

अभिधावृत्ति

शब्दार्थ-सम्बन्ध को शक्तिरूप पदार्थान्तर मानने वाले मीमांसक हैं। शब्द एवं अर्थ में परस्पर वाच्यवाचक सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए ये इस सम्बन्ध

---

१. प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥—ऋ० भा० भू०।

की स्वभावसिद्धता का प्रतिपादन करते हैं।[१] इस स्थिति में डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय का "मीमांसक लोग संकेत को ईश्वरेच्छा मानते हैं"[२] कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है। मीमांसक जब ईश्वर को ही नहीं मानते हैं तो तद्घटित संकेत को शक्ति स्वरूप कैसे मानेंगे।

न्यायदर्शन के अनुसार पद एवं पदार्थ के सम्बन्ध को शक्ति माना गया है। अमुक पद अमुक अर्थ का बोधन करे अथवा अमुक पद से अमुक अर्थ का बोधन करना चाहिये यह ईश्वरेच्छा रूप संकेत ही शक्ति है।[३] आधुनिक संकेतित देवदत्तादि पदों में ईश्वरेच्छा रूप संकेत के अनुपपन्न होने के कारण इच्छामात्र की संकेतरूपता मानना आवश्यक हो जाता है।

वैयाकरणों के अनुसार शब्द एवं अर्थ का परस्पर नित्य सम्बन्ध है।[४] आचार्य भर्तृहरि ने बोधजनकतारूप योग्यता को ही शक्ति माना है।[५]

नागेशभट्ट ने शब्दार्थ में वाच्यवाचकभावरूपा शक्ति को माना है। इस शक्ति के द्योतक के रूप में इन्होंने तादात्म्य को भी स्वीकार किया है। तादात्म्य में आरोपित शक्ति का व्यवहार होता है। भेदाभेदोभयघटित तादात्म्य शक्ति का नियामक भी है।[६]

न्यायदर्शनाभिमत शक्तिस्वरूप वैयाकरणों को मान्य नहीं है। नागेशभट्ट ने इसमें अनेक दोषों की उद्भावना करते हुए इसका खण्डन किया है।[७]

वैयाकरणों एवं मीमांसकों के शक्तिस्वरूप में ऐक्य है। वाच्यवाचकभाव रूप जिस शक्तिस्वरूप को वैयाकरण मानते हैं, उसी का समर्थन मीमांसादर्शन में भी

---

१. अस्ति तु सम्बन्धः प्रत्याय्यप्रत्यायकत्वलक्षणः, असत्येव सम्बन्धान्तरे स्वभावत एव शब्दोऽर्थस्य प्रत्यायकः अर्थश्च प्रत्याय्य इत्ययमेव सम्बन्धो भविष्यति।
शा० दी०। पा०; पृ० ३५६-५८

२. ध्वनिसिद्धान्त : विरोधी सम्प्रदाय : उनकी मान्यताएँ, पृ० ६२।

३. शक्तिवाद, पृ० ३।

४. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे, म० भा०, पस्प०।

५. इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा॥—वा० प०, ३।३।२९।

६. वै० सि० लं० मं०, शक्ति निरूपण।

७. वै० सि० ल० मं०, शक्तिनिरूपण।

उपलब्ध होता है। दोनों दर्शनों में शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता भी स्वीकार की गयी है।

साहित्यशास्त्र में साक्षात्संकेतित रूप मुख्यार्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द-व्यापार को अभिधाशक्ति कहा गया है।[१] अभिधाशक्ति से प्रतीत होने वाले अर्थ को मुख्यार्थ कहा जाता है क्योंकि लक्ष्यादि अर्थों की अपेक्षा इसकी पूर्वोपस्थिति होती है।

विश्वनाथ ने मम्मट का ही अनुसरण करते हुए संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति को अभिधा माना है।"[२] संकेतित अर्थ प्राथमिक अर्थ है, अतः उसकी बोधिका होने से यह मुख्यावृत्ति है।

अप्पयदीक्षित ने "शक्ति के द्वारा अर्थ-प्रतिपादिका वृत्ति को अभिधा कहा है।[३] इनके इस लक्षण में प्रयुक्त शक्ति एवं अभिधा ये दोनों पद भिन्नार्थक हैं। शब्द में शक्ति की सत्ता सदैव रहती है किन्तु जब वह उच्चरित होता है तो उसमें अर्थावबोधनरूप अभिधाव्यापार माना जाता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अभिधा के लक्षण को परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया है। पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्रियों का ध्यान अभिधा-लक्षण निरूपित करते समय शब्दार्थ-सम्बन्ध की ओर केन्द्रित नहीं हुआ था। इन्होंने अभिधाव्यापार को शब्दार्थगत सम्बन्धविशेष के रूप में प्रतिपादित किया। इनके अनुसार अभिधा-शक्ति उस शब्द-व्यापार को मानेंगे जिसमें अर्थ का शब्द में और शब्द का अर्थ में साक्षात् सम्बन्ध होता हो।[४] अप्पयदीक्षित के अभिधा-लक्षण को आत्माश्रय दोषग्रस्त बताकर उसका खण्डन भी किया है।

अभिधाशक्ति के भेद

अभिधाशक्ति को रूढ़ि, योग एवं योगरूढ़ि भेदों से तीन प्रकार का माना जाता है। जब शब्द, शक्ति से अखण्ड अर्थ का बोध कराता है, अवयवगत अर्थ

---

१. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते। का० प्र०, द्वि० उ०, सू० ११।

२. तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा, सा० द०, द्वि० प०, सू० ७।

३. शक्त्या प्रतिपादिकत्वमभिधा, वृ० वा०, सू० १।

४. शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः शब्दस्य अर्थगतो वा सम्बन्ध विशेषोऽभिधा
—रसगंगा०; पृ० १४०।

की पृथक् रूप से प्रतीति नहीं होती, तो वहां रूढ़ि अभिधा का क्षेत्र माना जाता है।[1] रूढ़ि अभिधा में एक तो अवयवार्थ का भान ही नहीं होता दूसरे यदि उसका भान होता भी हो तो समुदायशक्ति से उसका बाध हो जाने से उसकी स्वतन्त्र प्रतीति नहीं होती। इसके उदाहरण मणिनूपुर इत्यादि शब्द हैं। यहाँ शब्दार्थक मण् धातु से कर्त्ता अर्थ में इन् प्रत्यय करने पर भी मणि शब्द से शब्दकर्तृ रूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती अपितु रूढ़िशक्ति से रत्नरूप अर्थ का ही बोध होता है।

जहाँ अभिधाशक्ति अवयवार्थ के बोध के साथ एकार्थ-बोधिका होती है वहाँ योग शक्ति का अवसर उपस्थित होता है।[2] इसके उदाहरण पाचकादि शब्द हैं। यहाँ पच् धातु से विक्लित्यनुकूल व्यापार रूप अर्थ एवं अक् प्रत्यय से कर्तृरूप अर्थ की प्रतीति होती है। दोनों अर्थों को मिलाकर विक्लित्यनुकूलव्यापाराश्रय रूप अर्थ का बोध होता है।

अभिधा के तृतीय भेद योगरुढ़ि में अवयव एवं समुदाय दोनों शक्तियों की अर्थबोधन के लिये अपेक्षा होती है। पदार्थ की प्रतीति के लिये दोनों की उपयोगिता रहती है।[3] उदाहरणार्थ पंकजादि शब्दों में कमल अर्थ की प्रतीति कराने के लिये अवयव एवं समुदाय दोनों अर्थ अपेक्षित होते हैं।

अभिधा के इन तीन भेदों के अतिरिक्त एक चतुर्थ भेद यौगिकरूढ़ भी मानना आवश्यक है। अश्वगन्धा शब्द अश्वसम्बन्ध के कारण वाजिशाला अर्थ में यौगिक है किन्तु औषधिविशेष के अर्थ में रूढ़ होने से कभी यह यौगिक एवं कभी रूढ़ होता हुआ यौगिकरूढ़ का उदाहरण है।[4]

लक्षणावृत्ति

अभिधा से भिन्न सभी वृत्तियों को अमुख्य वृत्ति कहा जाता है। जब वाक्य में प्रयुक्त पदार्थों का परस्पर अन्वय बाधित हो जाता है तो उसकी उपपत्ति के लिये लक्षणावृत्ति का आश्रय लिया जाता है।

---

१. अखंडशक्ति मात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढिः। वृत्तिवार्तिक सू० २।
२. अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादिकत्वं योगः।—वही, सू० ३।
३. अवयवसमुदायोभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरुढिः।
—वृत्तिवार्तिक, सू० ४।
४. वै० सि० ल० मं०, शक्तिप्रकरण।

न्यायदर्शन में जब शक्यार्थ सामीप्यादि सम्बन्ध से अन्यार्थ की प्रतीति कराता है तो वहाँ लक्षणा मानी जाती है। मुख्यार्थ बाध में अन्वयानुपपत्ति एवं तात्पर्यानुपपत्ति को हेतु माना जाता है।[1] नव्य नैयायिकों ने तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणाबीज माना है। अभिधा की भाँति लक्षणावृत्ति को भी पद एवं पदार्थ की सम्बन्धता प्रदान की गयी है।

वाक्य में शक्ति न मानने वाले मीमांसक शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा नहीं स्वीकार करते। इनके अनुसार "गभीरायां नद्यां घोषः" इत्यादि लक्ष्यानुसार ज्ञाप्य-सम्बन्ध रूपा लक्षणा ही मानी जानी चाहिये। यहाँ गभीर पद की तीर में लक्षणा नहीं हो सकती। गभीरपद की तीर में लक्षणा मानने पर तीर का नदी के साथ अन्वय बाधित है, क्योंकि तीर नदी नहीं है। नदी पद की भी तीर में लक्षणा नहीं हो सकती क्योंकि तीर के गभीर न होने से उसका अन्वय बाधित है। यदि दोनों पदों में लक्षणा मानी जाती है तो "नामार्थयोरभेदान्वयः" इस नियम के अनुसार गभीरतीर से अभिन्न नदीतीर रूप अर्थ की प्रतीति होगी जबकि गभीरा भिन्न नदी-तीर रूप अर्थ अभीष्ट है। यदि नदी पद की गभीरनदीतीर में लक्षणा मानकर गभीर पद को मात्र तात्पर्यग्राहक माना जाय तो यह भी विनिगमक के अभाव में ठीक नहीं है। नदी पद को द्रव्य का वाचक मानकर उसका साक्षात्सम्बन्ध होने से उसी में लक्षणा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि गभीर पद भी गुणिवाचक होने से उसका भी साक्षात्सम्बन्ध है। अतः लक्षणा समुदाय में ही मानी जायेगी। समुदाय में शक्ति न होने से शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणा का अवसर ही न रहेगा अतः ज्ञाप्य रूपा लक्षणा ही मीमांसकाभिमत है।[2]

अद्वैत-वेदान्तदर्शन के अनुसार लक्षणा वाक्य वृत्ति मानी जाती है। "गभीरायां नद्यां घोषः" इत्यादि लक्ष्यों में लक्षणा पद मात्रवृत्ति न होकर समुदायवृत्ति ही है।[3]

प्राचीन वैयाकरण शाब्दबोध में कार्यकारणभावरूप गौरव को दृष्टि में रखते हुए लक्षणा को पृथक् वृत्ति नहीं मानते। अभिधावृत्ति को ही प्रसिद्धा एवं

---

१. न्याय सि० मुक्तावली, शब्दखण्ड।

२. वैयाकरणसिद्धान्त लघुमञ्जूषा, लक्षणानिरूपण।

३. वे० प०, पृ० २४३-२४६

अप्रसिद्धा इन दो भागों में विभाजित करके अप्रसिद्धा शक्ति में ही लक्षणा को भी अन्तर्भूत मानते हैं।[१]

नव्य वैयाकरणों में नागेशभट्ट ने "शक्यतावच्छेदकारोपरूपा लक्षणा" को माना है।[२] "गंगायां घोषः" इत्यादि लक्ष्यों में सामीप्य सम्बन्ध के कारण तीर में गंगात्व का आरोप किया जाता है। इस प्रकार अभिधाशक्ति से ही लक्ष्यार्थ का बोध हो जाने से पृथक् कार्यकारणभावरूप गौरव नहीं उत्थित होता। नागेशभट्ट लक्षणा को पृथक् वृत्ति नहीं मानते। इनके द्वारा लक्षणानिरूपण परमतसिद्धान्त विवेचन की दृष्टि से ही हुआ है।

लक्ष्यार्थ एवं मुख्यार्थ दोनों को अभिधावृत्तिबोध्य मान लेने पर गौण एवं मुख्य शब्दों की व्यवस्था लोकप्रसिद्धि से हो जायेगी।[३] शब्द का जो अर्थ लोकप्रसिद्ध है उसे उसका मुख्यार्थ एवं जिस अर्थ में उसकी लोकप्रसिद्धि नहीं है, वह उसका गौणार्थ माना जायेगा। गो शब्द का सास्नादिमदर्थ लोकप्रसिद्ध होने से मुख्यार्थ एवं वाहीक अर्थ लोकप्रसिद्ध न होने से गौणार्थ कहा जायेगा।

साहित्यशास्त्र में अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति होने पर जहाँ मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ लक्षणावृत्ति मानी जाती है। लक्षणा में मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग तथा रूढ़ि अथवा प्रयोजन ये तीन हेतु माने जाते हैं।[४] मुख्यार्थबाध में अन्वयानुपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति को बीज माना जाता है। इन दोनों लक्षणाबीजों में तात्पर्यानुपपत्ति को ही बीज मानना ठीक है। 'गंगायां घोषः' इत्यादि लक्ष्यों में घोषपद की मकरादि अर्थ में लक्षणा कर देने पर भी अन्वयानुपपत्ति का परिहार हो सकता है किन्तु तात्पर्यानुपपत्ति के कारण ही गंगापद की तीर में लक्षणा होती है। इस दृष्टि से डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डेय का "प्रवाह में घोष नहीं टिक सकता अतः इस अन्वयानुपपत्ति को दूर करने के लिए गंगा पद में लक्षणाशक्ति का प्रयोग कर अर्थ निकला गंगा का तट यही गंगा पद का लक्ष्य अर्थ है" कथन समीचीन नहीं जान पड़ता। 'गंगायां घोषः'

१. वैयाकरणभूषणसार, शक्ति नि०।
२. वैयाकरण सिद्धान्त लघुमञ्जूषा, लक्षणानिरूपण।
३. वा० प०, २।२५५।
४. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया। का० प्र०, द्वि० उ०, सू० १२।

इस उदाहरण में तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणाबीज स्वीकार करने पर ही तटरूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। अन्वयानुपपत्ति का परिहार तो घोष की मकरादि में लक्षणा करने पर भी हो सकता है।

लक्षणा के हेतुओं में मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के मध्य सम्बन्ध का भी विशेष महत्त्व है। गौतम के अनुसार १० ऐसे सम्बन्ध हैं, जिनके कारण प्रतिपत्ता प्रवृत्तिनिमित्त का आरोप करता है।[1]

महाभाष्यकार पतंजलि ने तात्स्थ्य, ताद्धर्म्य, सामीप्य एवं सहचरण इन चार सम्बन्धों को लक्षणा का हेतु बताया है। इन चार सम्बन्धों के कारण ही शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त का आरोपित व्यवहार करके अन्यार्थ की प्रतीति होती है।[2]

मुकुलभट्ट ने मीमांसाशास्त्र के आचार्य भर्तृमित्र का उल्लेख करते हुए इनके अनुसार "अभिधेय एवं लक्ष्य अर्थ में सम्बन्ध होने के कारण, सादृश्य, समवाय, वैपरीत्य एवं क्रियाविशेष से योग"—इन पाँच सम्बन्धों को लक्षणा के हेतु रूप में उल्लिखित किया है।[3]

आचार्य मम्मट ने अभिधेय एवं लक्ष्यार्थ में सादृश्य एवं सादृश्येतर दो सम्बन्धों को मानते हुए सादृश्येतर सम्बन्धों को वैयाकरणों के अनुसार ही उदाहृत किया है। तादर्थ्य, स्वस्वामिभाव, अवयवावयविभाव, तात्कर्म्य, कार्य-कारणभाव एवं सामीप्य सम्बन्धों के उदाहरण काव्यप्रकाश में उपलब्ध होते हैं।[4] इन्हीं सम्बन्धों के आधार पर शुद्धा एवं गौणी इन लक्षणा-भेदों की भी स्थापना की जाती है। सादृश्यसम्बन्धमूलिका लक्षणा गौणी एवं सादृश्येतर सम्बन्धमूलिका शुद्धा मानी जाती है।[5] परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं सम्बन्धों को मुख्य आधार मानते हुए लक्षणा के अनेक भेदों का निरूपण किया है।

---

१. सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्योब्राह्मण बालकटराजसक्तुचन्दनगंगाशकटान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः।
न्या० द० अध्याय २ आ० २ सू० ६३।

२ महाभाष्य, १।१।९।

३. अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा स्मृता ॥ अभिधा, वृ० मा०।

४. का० प्र०, द्वि० उ०, वृत्तिभाग।

५. वही।

लक्षणा के बीजों में रूढ़ि अथवा प्रयोजन का होना भी आवश्यक है। जब शब्द का लोक में प्रयोग अभिधेय अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रचलित हो जाता है, तो वहाँ रूढि लक्षणा होती है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण "कर्मणि कुशल:" प्रयोग है। इस प्रयोग में कुशल शब्द का वाच्यार्थ "कुशों का आनयनकर्त्ता है" किन्तु रूढिलक्षणा के कारण लोक में इसका प्रचलित अर्थ निपुण है। जब वक्ता शब्दप्रयोग मुख्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ के बोधन के लिये करता है तो निश्चय ही उसका अभिप्राय प्रयोजनविशेष की प्रतीति कराना है। "तटे घोष:" के स्थान पर "गंगायां घोष:" इस वाक्य के प्रयोग से शैत्य एवं पावनत्वादि रूप प्रयोजन की प्रतिपत्ति होती है।[1]

लक्षणाविरोधी आचार्य

अभिधा की भाँति लक्षणा सर्वमान्यवृत्ति नहीं है। वैयाकरण लक्षणा को अतिरिक्त वृत्ति नहीं मानते। साहित्यशास्त्र में मुकुलभट्ट, महिमभट्ट एवं कुन्तक लक्षणाविरोधी आचार्य हैं। मुकुलभट्ट ने अभिधा के १० भेदों के अन्तर्गत ही लक्षणा का अन्तर्भाव माना है।[2] महिमभट्ट ने शब्द में मात्र अभिधा का ही अस्तित्व स्वीकार किया है।[3] कुन्तक लक्षणा का खण्डन तो नहीं करते, किन्तु विचित्रा अभिधारूपा वक्रोक्ति से ये लक्षणा को पृथक् भी नहीं मानते हैं।[4]

मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराने वाली व्यंजनावृत्ति को भी ध्वनिवादी आचार्यों ने स्वीकृति प्रदान की है। काव्य में अतिरमणीयभूत तत्त्व प्रतीयमान है। प्रतीयमान वाच्य एवं लक्ष्य से भिन्न होता है। अतः उसकी प्रतीति के लिए व्यंजना नामक एक पृथक् व्यापार मानना आवश्यक है।

साहित्यशास्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी शास्त्र में व्यंजनाव्यापार का उल्लेख नहीं मिलता। व्याकरणशास्त्र के आचार्य नागेशभट्ट ने भी व्यंजना का निरूपण किया है किन्तु इनका यह निरूपण साहित्यशास्त्रीय व्यंजना-आविष्कार के बाद का ही है। इनके मत की विस्तृत समीक्षा अग्रिम अध्यायों में की जायेगी।

---

१. का० प्र०, द्वि० उ०।

२. अभिधावृत्तिमात्रिका, का० १२

३. शब्दस्यैकाभिधाशक्तिरर्थस्यैकैव लिंगता, व्यक्तिविवेक, १।२६

४. वक्रोक्तिजीवित, पृ० २

व्यंजनावृत्ति

व्यंजना एवं ध्वनिसिद्धान्त का प्रवर्तन आनन्दवर्धन ने किया। ध्वनिसम्प्रदाय में ध्वनि, व्यंजना एवं व्यंग्यार्थ इन तीन तत्त्वों पर पूर्ण विचार प्रस्तुत करते हुए इनकी स्थापना पर बल दिया गया। व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यंजना नामक एक नूतन व्यापार का अन्वेषण किया गया।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्यात्मा कहकर इसकी सर्वोच्च सत्ता स्थापित करने का प्रयास किया है। जिस प्रतीयमान को महाकवियों की वाणी में आदर मिला था, उसी को इन्होंने ध्वनि शब्द से अभिहित किया।[१] आनन्दवर्धन के अनुसार उन्हीं काव्यों को ध्वनिसंज्ञा से अभिहित किया जा सकेगा जिनमें वाचक शब्द एवं वाच्यार्थ अपने को गौण बनाते हुए प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराते हों।[२]

ध्वनि शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वैयाकरणों ने नित्य स्फोटात्मक शब्द के अभिव्यंजक तत्त्व के रूप में किया था। उन्हीं के आधार पर व्यंजकत्व साम्य को लेकर आनन्दवर्धन ने भी प्रतीयमान अर्थ के लिये इस शब्द के प्रयोग को उचित समझा।[३] साहित्य में ध्वनि शब्द का प्रयोग व्याकरणशास्त्र को आधार मानकर ही किया गया।

काव्य में व्यंग्यार्थ एवं रसादिरूप अर्थ की प्रतीति के लिये आनन्दवर्धन ने व्यंजनाव्यापार को जिस रूप में स्वीकार किया उसे उनके परवर्ती समर्थकों ने भी

---

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥
—ध्वन्या०, प्र० उ०, का० ४।

२. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥
—ध्वन्या०, प्र० उ०, का० १२।

३. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः काव्य तत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः। —ध्वन्या०, प्र० उ०।

उसी रूप में ग्रहण किया। सभी समीक्षकों ने व्यंजना को अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्तियों से पृथक् एवं उत्कृष्टतम वृत्ति सिद्ध करने का प्रयास किया एवं व्यंजनावृत्ति से बोधित होने वाले व्यंग्यार्थ को अनुमानादि प्रमाणों से अग्राह्य बताया। व्यंजनावृत्ति के स्वरूप की मीमांसा अग्रिम प्रकरणों में की जायेगी।

व्यंजना-भेद

व्यंजनावादियों ने शाब्दी एवं आर्थी भेद से व्यंजना के दो भेद किये हैं। शाब्दी व्यंजना अभिधामूला तथा लक्षणामूला इन दो भेदों में विभक्त की जाती है। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना नियंत्रित अर्थ को बोधिका होती है। जब वाक्य में प्रयुक्त अनेकार्थ पदों में संयोगादि अभिधा-नियामकों के कारण अभिधा प्राकरणिक अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है तब अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यंजनाव्यापार द्वारा मानी जाती है। संयोगादिक नियामक हेतुओं के कारण अभिधा एकार्थ में नियन्त्रित हो जाती है, अतः अप्राकरणिक अर्थ के बोधन में इसे सक्षम नहीं माना जा सकता। अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यंजनाव्यापार से ही होती है।[१] अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का अवसर तभी उपस्थित होता है जब कि वाक्य में अनेकार्थ शब्दों का प्रयोग किया गया हो और अभिधा प्राकरणिक अर्थ में नियामक हेतुओं के कारण नियंत्रित हो गयी हो। आचार्य मम्मट ने भद्रात्मनो दुरधिरोह-तनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य। यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य, दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्॥ इस पद्य को अभिधामूला शाब्दीव्यंजना के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इस पद्य में प्राकरणिक अर्थ राजपरक अर्थ है। द्वितीय अर्थ गजपरक अर्थ है किन्तु वह कवि विवक्षित न होने से अप्राकरणिक है। अभिधा संयोगादिक से नियंत्रित होकर जब प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति करा-कर उपरत व्यापार हो जाती है, तब अप्राकरणिक अर्थ का बोध व्यंजनावृत्ति से ही सम्भव हो पाता है।

प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन की प्रतीति के लिये व्यंजनाव्यापार का ही सामर्थ्य माना जाता है। "गंगायां घोषः" इत्यादि उदाहरणों में शैत्यपावनत्वा-तिशय रूप प्रयोजन अभिधा एवं लक्षणा शक्तियों से बोधित नहीं हो सकता।

---

१. अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरंजनम्॥
—काव्य प्र०, द्वि० उ० सू० ३२।

अभिधा प्रवाहविशेष रूप अर्थ एवं लक्षणा तट रूप अर्थ का ही ज्ञान कराकर क्षीणशक्तिक हो जाती है। गंगापद का शैत्यादिरूप अर्थ में संकेत न होने से भी अभिधाव्यापार उक्त अर्थ के बोधन में प्रवृत्त नहीं हो सकता।[१] मुख्यार्थबाधादि हेतुत्रय के अभाव में लक्षणा भी शैत्यादि अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकती।[२] लक्षणा एवं अभिधावृत्तियों के क्षेत्र का विषय न होने वाला शैत्यादि प्रयोजन रूप अर्थ व्यंजनावृत्ति-बोध्य ही माना जायेगा।

वक्तृ, बोद्धव्य इत्यादि सहकारी हेतुओं के कारण जब प्रतिभाशाली सहृदयों को वाच्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति होती है तब उसे आर्थी व्यंजना का विषय माना जाता है।[३] आर्थी व्यंजना में अर्थ ही अर्थान्तर की प्रतीति का मुख्य हेतु होता है किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि इसमें शब्द का महत्त्व नहीं रहता। शब्द की सहकारिता आर्थी व्यंजना में भी अपेक्षित होती है।[४] शाब्दी एवं आर्थी दोनों व्यंजना में शब्द की उपादेयता स्वीकार की गयी है।

तात्पर्यवृत्ति

काव्यशास्त्र में तात्पर्यवृत्ति का निरूपण दो धाराओं में विभक्त मिलता है। प्रथम रूप की उपयोगिता मात्र अन्वयांशरूप वाक्यार्थ के लिये मानी गयी है। इसे अभिहितान्वयवादी मीमांसकों का मत बताया गया है।[५] वाक्य में प्रयुक्त पदों का अर्थ अभिधावृत्ति से ज्ञात हो जाता है किन्तु अन्वयांश रूप वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए तात्पर्यवृत्ति की सत्ता स्वीकार करनी आवश्यक है। अन्वयांश रूप वाक्यार्थ पदार्थ-व्यतिरिक्त है अतः उसके बोधन में अभिधाव्यापार क्षीणशक्तिक भी माना जायेगा।

---

१. नाभिधा समयाभावात्।—का० प्र०, द्वि० उ०, सू० २४।

२. हेत्वभावान्न लक्षणा।—वही, सू० २५।

३. वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥
—का० प्र०, तृ० उ०, सू० ३७।

४. शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यंजकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता॥—का० प्र०, तृ० उ०, सू० ३८

५. तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्, का० प्र०, द्वि० उ०, सू० ७

अन्वयांश-बोधिका तात्पर्यवृत्ति के स्वरूप की मीमांसा प्राय: सभी ध्वनि-सिद्धान्त-समर्थक आचार्यों की कृतियों में उपलब्ध होती है।

तात्पर्यवृत्ति के द्वितीय स्वरूप का विवेचन काव्यशास्त्र के तात्पर्यवादी आचार्यों के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। तात्पर्यवादी आचार्यों ने व्यंजनावृत्ति को अतिरिक्त वृत्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया। व्यंग्यार्थ को तात्पर्यार्थ से अनतिरिक्त बताते हुए इसे तात्पर्यवृत्ति-बोध्य सिद्ध करने का प्रयास किया है।

साहित्यशास्त्र में धनिक ने तात्पर्यवृत्ति को वक्ता के विवक्षित अर्थ के बोधन तक समर्थ बताया है। जब तक वाक्य का कार्य पूर्ण नहीं होता तब तक तात्पर्य-वृत्ति की भी विश्रान्ति नहीं मानी जाती।[1] धनिक का मत है कि यदि प्रतिपाद्य वाक्य में क्रियाकारक-रूप संसर्गांश की यथावत् पूर्ति हो जाती है तो उसे एक दृष्टि से तो पूर्ण माना जाता है, किन्तु जब तक उससे अभीष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं हो जाती उसे अपूर्ण ही माना जायेगा, अत: वाक्यार्थ मात्र क्रियाकारकरूप संसर्गात्मक रूप में सीमित नहीं माना जा सकता।[2] तात्पर्यवृत्ति वक्ता के अभीष्ट अर्थ की प्रतीति कराकर ही विरत मानी जा सकती है।

तात्पर्यवादी आचार्य अभिधा का तो विराम स्वीकार करते हैं, किन्तु तात्पर्य-वृत्ति का नहीं। पदार्थ-प्रतीति कराकर अभिधावृत्ति विरत हो जाती है क्योंकि उसका विषय मात्र संकेतित अर्थ है। किन्तु तात्पर्यवृत्ति वक्तृ एवं श्रोतृ वैशिष्ट्य से तात्पर्यविषयीभूत अर्थ की प्रतीति कराकर ही क्षीण होती है। अभिधा की भाँति इसका विषय निर्धारित नहीं किया जा सकता।

उपसंहार

इस प्रकार काव्यशास्त्र में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना एवं तात्पर्य इन चार वृत्तियों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। व्यंजना एवं तात्पर्य वृत्तियों का काव्य-शास्त्र के लिये विशेष महत्त्व है। काव्य में अभिधेय एवं लक्ष्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ भी विद्यमान रहता है। इस अतिरिक्त अर्थ की सत्ता से ही काव्य का वैलक्षण्य सिद्ध होता है। इस अर्थ की प्रतीति के लिये व्यंजना एवं तात्पर्य इन पृथक्-पृथक् व्यापारों की कल्पना की गयी है।

---

१. दशरूपक, च० प्र०, अव० टीका।

२. प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद् यदि।
वक्तुर्विवक्षिताप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम्॥—दशरूपक, च० प्र०, अ०, का० ६

तृतीय अध्याय

संस्कृत काव्यशास्त्र में तात्पर्यशक्ति का सिंहावलोकन

तात्पर्यवृत्ति का स्वरूप

साहित्यशास्त्र में तात्पर्यशक्ति की विवेचना दो रूपों में उपलब्ध होती हैं—क—पदसंसर्गबोधिका और ख—वक्त्रभिप्रायबोधिका। प्रथम रूप को अभिहितान्वयवादी मीमांसकों का मत मानकर इसे मात्र संसर्ग-प्रतीति के लिये ही उपयोगी बताया गया है। अन्वयांश-बोध के लिये प्रयुक्त होने वाली तात्पर्यशक्ति की स्वीकृति के बारे में आलंकारिकों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं प्राप्त होता। कहना न होगा कि अभिहित पदार्थों के परस्पर अन्वयांश को सम्पन्न करने वाली इस तात्पर्याख्या वृत्ति का उल्लेख मम्मट ने बड़े मनोयोग के साथ किया है।[1] पदार्थों के परस्पर अन्वय के प्रयोजक आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि धर्म हैं, जो कि पदार्थों के धर्म हैं, जबकि तात्पर्यवृत्ति वाक्य की वृत्ति है।

तात्पर्यवृत्ति का उद्भव

वाक्यार्थ में संसर्गांश की प्रतीति कराने के लिये अभिहितान्वयवादी मीमांसकों ने तात्पर्यवृत्ति की स्थापना की है। वाक्य के अन्तर्गत प्रयुक्त पद अभिधावृत्ति के द्वारा मात्र पदार्थ की ही उपस्थिति कराने में समर्थ होते हैं। अन्वयांश की उपस्थिति अभिधावृत्ति द्वारा संभव ही नहीं है। क्योंकि संकेतित अर्थ मात्र में ही अभिधाव्यापार प्रवृत्त होता है। अन्वयांश की उपस्थिति कराने के लिये अभिधा से अतिरिक्त तात्पर्यवृत्ति की कल्पना आवश्यक है। यदि संसर्ग की उपस्थिति वृत्ति के बिना मानी जायगी तो शाब्दबोध के नियम की अवहेलना भी होगी। क्योंकि 'शाब्दबोध में वृत्ति से उपस्थापित अर्थ ही भासित होता है' इस नियम को मानना इसलिये आवश्यक हो जाता है कि घटादि पदों से समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित आकाश की प्रतीति न हो सके। आकाश समवायसम्बन्ध से

---

१. तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्, का० प्र०, द्वि० उ०, सू० ७

सम्बन्धित होने पर भी वृत्तिसम्बन्ध से सम्बन्धित न होने के कारण शाब्दबोध में भासित नहीं होता है। वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये अभिहितान्वयवादी मीमांसकों की यह तात्पर्यवृत्ति शब्दगत धर्मविशेष रूप वाली है और "वक्ता की इच्छा" इस प्रचलित अर्थ वाले तात्पर्य स्वरूप से इसे व्यतिरिक्त मानना उचित है। यदि इस प्रचलित रूप वाली तात्पर्यवृत्ति को अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के पक्ष में रखा जायगा तो उनके मूलभूत सिद्धान्त में व्याघात उपस्थित हो जायगा। मीमांसक वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध करते हैं। इस स्थिति में "वक्ता की इच्छा" रूप तात्पर्य के अभाव में वेदार्थ की प्रतीति सम्भव न होगी। पदार्थ की वाक्यार्थ में लक्षणा मानने वाले भाट्ट मीमांसकों के अनुसार तात्पर्यवृत्ति को ही लक्षणा पद से व्यपदिष्ट किया गया है।[1] इस तात्पर्यवृत्ति को लक्षणा से पृथक् मानना इसलिये आवश्यक हो जाता है कि इससे अन्वयांशविशिष्ट पदार्थरूप वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। पार्थसारथि मिश्र ने इसे वृत्ति के रूप में स्वीकृत किया है।[2]

अन्विताभिधानवादी मत में इसकी आवश्यकता

अन्विताभिधानवादी मीमांसकों ने अन्वयांशप्रतीति के लिये अभिधा से अतिरिक्त किसी भी अन्य वृत्ति का आश्रय नहीं लिया है। प्रयोज्य-प्रयोजक वृद्धव्यवहार के द्वारा व्युत्पित्सु बालक को संकेतग्रह परस्पर अन्वित पदार्थ में होता है। अतः शक्ति भी अन्वित विशिष्ट में ही मानी जानी चाहिये। वाक्यार्थ की वाच्यता के पक्षधर प्रभाकरमतानुयायी मीमांसकों को अतिरिक्त रूप से अन्वयांशप्रतीति की अपेक्षा ही नहीं रहती। फिर वे तात्पर्यवृत्ति को उक्त बोध कराने हेतु स्वीकार ही क्यों करेंगे? अन्विताभिधानवादियों का मत दोषग्रस्त होने के कारण सैद्धान्तिक नहीं माना जा सकता है। 'घटमानय' एवं 'पटमानय' इन विभिन्न वाक्यों में प्रयुक्त आनयनपद में प्रत्यभिज्ञा को सुरक्षित करने के लिये सामान्य रूप से अन्वित पदार्थ में ही संकेतग्रह को मानना आवश्यक होगा, पुनः सम्बन्ध विशेष के बोध के लिये विशेष पदों के समभिव्याहार को कारण मानने में

---

१. तात्पर्यं वाक्यधर्मतया वाक्यवृत्तिरिति परिभाष्यते इति
वाक्यार्थे लक्षणावादिनां भट्टानामपि मते प्रतिपाद्यसम्बन्धो
वाक्यस्य तात्पर्यमेव लक्षणेति व्यपदिश्यत इति ध्येयम्।
—का० प्र०, गोकुलनाथ, द्वि० उ०, पृ० सं० ४१, टीकाभाग।

२. ये तात्पर्याभिधातृत्वे न्यायरत्नमाला. पृ० सं० ९६।

अन्विताभिधानवादियों को व्यर्थ में अतिरिक्त कार्य-कारणभाव का गौरव सहन करना पड़ेगा।[1] दूसरे वाक्यार्थ की अपूर्वता भी नहीं हो सकेगी।

न्यायदर्शन के अनुसार तात्पर्य का स्वरूप

न्यायदर्शन में संसर्गावबोध के लिये तात्पर्यवृत्ति की स्वीकृति नहीं मानी गई है। संसर्ग की प्रतीति के लिये आकांक्षाज्ञान की ही कारणता नैयायिक मानते हैं।[2] जिस पद के बिना जिस पद में शब्दबोध उत्पन्न करने का सामर्थ्य न हो उस पद की उस पद के साथ आकांक्षा मानी जाती है। वास्तव में यह आकांक्षा प्रकृति एवं प्रत्यय के समभिव्याहार अर्थात् पौर्वापर्यस्वरूप वाली है। समभिव्याहार की उपपत्ति के लिये विभिन्न व्युत्पत्तियों एवं अनेक कार्य-कारणभावों की स्थापना नैयायिकों को करनी पड़ी है।

न्यायदर्शन में तात्पर्यवृत्ति को तो स्थान नहीं मिला किन्तु नानार्थक स्थलों में प्रकरणादिसहकृत तात्पर्यज्ञान की कारणता अवश्य मानी गई है। तात्पर्यज्ञान में प्रकरणादिक को नियामक माना गया है। अनेकार्थक शब्दस्थलों में प्रकरणादिक को ही कारण माना जा सकता है, पुनः तात्पर्यज्ञान को कारण मानने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इस सम्बन्ध में उक्त दार्शनिकों का कथन है कि प्रकरणादिक को कारण मानने पर गौरव का भय होने तथा उनके अनुगत न होने से तात्पर्यज्ञान को ही कारण मानना उचित है।

न्यायदर्शन के तात्पर्यज्ञान एवं अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्यवृत्ति में पर्याप्त भेद है। तात्पर्यज्ञान की कारणता मात्र अनेकार्थक स्थलों में ही है जबकि तात्पर्यवृत्ति सर्वत्र अन्वयांशप्रतीति हेतु प्रयुक्त होती है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार तात्पर्य-स्वरूप

अद्वैतवेदान्तदर्शन में भी तात्पर्यज्ञान अन्वयबोध के लिये कारणरूप से मान्य है, किन्तु न्यायदर्शन से इसका स्वरूप भिन्न है। पदार्थों के परस्पर संसर्ग का

---

१. सम्बन्धविशेषबोधाय पदान्तरसन्निधानरूपाकांक्षायाः
कारणत्वकल्पनमावश्यकमित्यन्वयांशे शक्तिमस्वीकृत्यैव
आकांक्षादित एव बोधसम्भवे तत्र शक्तिकल्पने गौरवम्।

—वै० सि० ल० मञ्जूषाः, स्फो० नि०, पृ० ३९४, टीकाभाग।

२. शब्दबोधे चैकपदार्थेऽपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते।

—व्युत्पत्तिवाद, प्रथमा कारक।

जनक तात्पर्यस्वरूप वेदान्तियों को अभिमत है। 'गेहे घटः' इस वाक्य से गेह के साथ घट के सम्बन्ध की प्रतीति होती है, पट के संसर्ग की नहीं। इस प्रकार के बोध के लिये तात्पर्यज्ञान की ही हेतुता है।[१]

वैयाकरणमत में तात्पर्यस्वरूप

अखण्ड वाक्यस्फोट की सत्ता सिद्ध करने वाले वैयाकरणों ने पद-पदार्थ तथा वाक्य-वाक्यार्थ की कल्पना की है। ये पदार्थ से वाक्यार्थ की सत्ता पृथक् स्थापित करते हैं। अभिधा केवल पदार्थ की प्रतीति कराती है, अन्वयांश वाक्यार्थ रूप है, उसकी प्रतीति पदों से नहीं होती। पदों से अन्वयांश की प्रतीति मानने पर पदार्थ से अतिरिक्त वाक्यार्थ की पृथक् स्थिति सम्भव न हो सकेगी। सिद्धान्ततः वाक्यार्थ एवं पदार्थ में भेद माना जाना आवश्यक है। इस दृष्टि से समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि वैयाकरण अन्विताभिधानवादियों के विरोधी है। अन्वयांश की प्रतीति वैयाकरण कहीं पर आकांक्षाज्ञान तथा कहीं पर वृद्धोपदेश द्वारा करते हैं।[२] आकांक्षा पदों के समभिव्याहारस्वरूपवाली ही है। संसर्गांश की प्रतीति के लिये नैयायिकों एवं वैयाकरणों की सरणि में पर्याप्त साम्य है। दोनों दार्शनिक अन्वयांश की प्रतीति आकांक्षा के बल पर ही करते है। इस सन्दर्भ में डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डेय का, वैयाकरणों ने व्यवहारदशा में तात्पर्यवृत्ति को स्वीकृति प्रदान की है, प्रतिपादन, युक्त नहीं है। डॉ० पाण्डेय ने इसके समर्थन में "तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजम्" यह नागेशभट्ट का उद्धरण उद्धृत किया है। कहाँ तात्पर्यवृत्ति और कहाँ लक्षणा के बीज तात्पर्यानुपपत्ति का उल्लेख। दोनों में प्रकरण की भी संगति नहीं है। तात्पर्यवृत्ति अन्वयांश की प्रतीति करने वाली वाक्यगत अथवा शब्दगत वृत्तिविशेष है जबकि तात्पर्यानुपपत्ति शब्द के अन्तर्गत प्रयुक्त तात्पर्य का अभिप्राय वक्ता की इच्छा से है।[३]

---

१. गेहे घट इति वाक्यं गेहघटसंसर्गप्रतीतिजननयोग्यं,
न तु पटसंसर्गप्रतीतिजननयोग्यमिति तद्वाक्यं घटसंसर्ग-
परं न तु पटसंसर्गपरमित्युच्यते।—वे० प०, आगम परि०।

२. वृद्धव्यवहारदर्शनसहकृतमनसोऽस्थितिविशिष्टे,
तद्ग्रहसम्भवात्, क्वचिदुपदेशेन तद्ग्रहसम्भवात्।
क्वचिदाकांक्षावशात्तदैव तत्र शक्तिग्रहो बोधश्च॥
—वै० सि० ल० मं०, स्फो० नि०।

३. डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डेय : ध्वनिसिद्धान्तविरोधी सम्प्रदाय, पृ० ६६।

संसर्गांश की प्रतीति कराने वाली तात्पर्यशक्ति की चर्चा ध्वन्यालोक की टीका लोचन में भी उपलब्ध होती है। लोचनकार ने विशेषरूप वाक्यार्थ की प्रतीति कराने वाली वृत्ति का नाम तात्पर्य दिया है।[1] इनके अनुसार तात्पर्यशक्ति अन्वयांशबोध मात्र में पर्यवसित होती है।

वक्त्रभिप्रायबोधिका तात्पर्यवृत्ति

उक्त संसर्गांश की प्रतीति कराने वाली तात्पर्याख्या शक्ति से अतिरिक्त वक्त्रभिप्रायबोधिका तात्पर्यवृत्ति का निरूपण तात्पर्यवादी आचार्यों की कृतियों में उपलब्ध होता है। अभिनवगुप्त के लोचन में इसी तात्पर्यवृत्ति का खण्डन मीमांसकों के उल्लेख के साथ किया गया है।[2] साहित्यदर्पण में भी तात्पर्यवृत्ति के साथ मीमांसकों के नाम का ही उल्लेख मिलता है।[3]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि व्यञ्जनास्थानीया जिस तात्पर्यवृत्ति की विशद व्याख्या धनिक-धनञ्जय, भोज, शारदातनय, राजशेखर एवं कुन्तक ने प्रस्तुत की, वह मीमांसासम्प्रदाय द्वारा समर्थित थी। यद्यपि मीमांसाशास्त्र में व्यंजनास्थानीया तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता तथापि "यत्परः शब्दः" इस मीमांसान्याय के बल पर प्रवृत्त होने वाली तात्पर्यवृत्ति को मीमांसाशास्त्रीय वृत्ति कहकर ही समालोचकों ने इसके खण्डन में अपनी रुचि प्रदर्शित की है। भले ही मीमांसक अपौरुषेय वेद-वाक्यों के अर्थ-निर्णयप्रसंग में तात्पर्यवृत्ति को न मानें, किन्तु लौकिक वाक्यों में उन्हें व्यंग्यार्थ-बोध के लिए किसी न किसी वृत्तिविशेष का आश्रय लेना तो आवश्यक होगा ही। वैयाकरणों की सिद्धान्तभित्ति पर आधारित व्यंजनाव्यापार को वे व्यंग्यार्थव-

---

१. विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते
'सामान्यान्यन्यथासिद्धे विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात् ॥
—ध्वन्या० लो०, प्र० उ०, लोचन भाग।

२. यस्तुध्वनिव्याख्यानोद्यतस्तात्पर्यमेव विवक्षासूचकत्वमेव वा ध्वननमवोचत्, स नास्माकं हृदयमावर्जयति ॥
—ध्वन्या० लो०, प्र० उ०, टीकाभाग।

३. अभिहितान्वयतादिभिरंगीकृता तात्पर्याख्यावृत्तिरपि।
संसर्गमात्रे परिक्षीणा न व्यंग्यबोधिनी ॥
—सा० द०, प० परि० वृत्तिभाग।

बोध के लिए स्वीकार ही क्यों करेंगे ? क्योंकि ध्वनिसिद्धान्त के मूलभूत तत्त्व स्फोट को ही वे नहीं स्वीकार कर सकते हैं। अर्थ की प्रतीति के लिये किसी न किसी वृत्तिविशेष को मानना अपेक्षित होगा ही। ऐसी स्थिति में मीमांसासम्प्रदाय के पक्षधर समालोचकों ने साहित्य-क्षेत्र में भी तात्पर्यवृत्ति की स्थापना पर बल दिया। यही कारण है कि मीमांसा शब्दों में तात्पर्यवृत्ति का सुस्पष्ट उल्लेख न होने पर भी इसके समर्थकों के लिए मीमांसकैकदेशी पद का प्रयोग किया जाने लगा। मीमांसा के ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता भी कैसे ? वैदिक अपौरुषेय वाक्यों के अर्थबोधन के लिये प्रवृत्त मीमांसकों के लिये लौकिक काव्यों से सम्बद्ध तात्पर्यवृत्ति के विवेचन के लिये अवकाश ही कहाँ ? यह स्थिति ठीक ध्वनिसिद्धान्त जैसी है। वैयाकरणों के सम्प्रदाय में स्फोट तत्त्व का प्रतिपादन मुख्यरूप से किया गया, प्रसंगतः अभिव्यंजक रूप से ध्वनि की भी चर्चा की गई। वैयाकरणों के ध्वनिशब्द मात्र को लेकर आलंकारिकों ने इसे व्याकरणसम्प्रदायानुमोदित बताने में संकोच का अनुभव नहीं किया। जबकि साहित्यशास्त्रीय ध्वनिसिद्धान्त एवं वैयाकरणों की ध्वनि में पर्याप्त अन्तर है। इसकी चर्चा अग्रिम प्रकरणों में की जायगी।

तात्पर्यवृत्ति का प्रेरणास्रोत मीमांसाशास्त्र

तात्पर्यवादी साहित्यशास्त्रियों को प्रेरणा निश्चित रूप से मीमांसाशास्त्र से ही मिली है। शास्त्रदीपिका के वाक्याधिकरण में पदों से पदार्थ-प्रतीति हो जाने पर पुनः पद विशिष्टरूप वाक्यार्थ की प्रतीति कराने में समर्थ न हो सकेंगे, इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए टीकाकार ने श्लोकवार्तिक की कारिका को उद्धृत करते हुए निष्कर्ष रूप में यह प्रतिपादित किया है कि शब्द का तात्पर्य पदार्थ में न होकर वाक्यार्थ में ही होता है। यद्यपि अभिधाव्यापार पदार्थों में ही पर्यवसित हो जाता है तथापि वक्ता का तात्पर्य मात्र पदार्थ में न होकर वाक्यार्थ-पर्यन्त रहता है, अतः पद तात्पर्यभूत वाक्यार्थ की प्रतीति कराने के अनन्तर ही अपने व्यापार से विरत होंगे।[1]

---

१. यद्यप्यभिधाव्यापारः पदार्थेष्वेव पर्यवसितस्तथापि
तेषु तात्पर्याभावात् वाक्यार्थपर्यन्तत्वं तात्पर्यं च शब्दस्य
प्रामाण्यात् सिध्यति शब्दप्रमेयतया वाक्यार्थस्य शब्दत्वमिति।
—शास्त्रदीपिका, स्नेहप्रपूरणी, टीकाभाग, पृ० ४५३।

मीमांसा में पदों में दो प्रकार की शक्तियाँ मानी गयी हैं--(क) अभिधात्री एवं (ख) तात्पर्यशक्ति[१]। पदों से पदार्थों की प्रतीति अभिधात्री शक्ति कराती है। इसका उपयोग मात्र पदार्थप्रतीति कराने में ही है, किन्तु दूसरी तात्पर्य-शक्ति का पर्यवसान वाक्यार्थ में ही होता है। जब तक वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं हो जाती तात्पर्यशक्ति का व्यापार विरत नहीं होता। वाक्य के अवान्तर एवं महातात्पर्य द्विविध तात्पर्य माने जाते हैं। अवान्तर तात्पर्य से पदार्थप्रतीति होती है पुनः महातात्पर्य के द्वारा पदार्थ से वाक्यार्थ का बोध होता है।[२] पद पदार्थ की प्रतीति कराने के बाद वाक्यार्थ-प्रतीति कराते हैं, तभी वे निवृत्त-व्यापार माने जाते हैं। जिस प्रकार अवान्तर व्यापार से कारक की कारकता प्रधान व्यापार में भी सुरक्षित मानी जाती है उसी प्रकार पदार्थ-प्रतीति कराने के अनन्तर भी पदों का व्यापार यथावत् बना ही रहता है। पदों से पदार्थ प्रतीति अवान्तर व्यापार है।[३] यही कारण है कि भट्टलोल्लट ने दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापार के द्वारा ही वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ उभयबोध की कल्पना की है। भट्टलोल्लट अवान्तर व्यापार एवं महाव्यापार इन दोनों व्यापारविषयिणी मीमांसकों की दृष्टि को रखकर ही उक्त कल्पना के लिये प्रेरित हुए होंगे।

मीमांसकों की यह तात्पर्यवृत्ति वक्ता की विवक्षा से ही है। वक्ता की विवक्षा ही वाक्य का प्रयोजनीभूत अर्थ है। जब तक वाक्य के प्रयोजन की प्रतिपत्ति नहीं होती, तात्पर्यवृत्ति विरतव्यापार नहीं होती। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी वाक्यार्थ-बोध में तात्पर्य की आवश्यकता पर बल दिया है[४]। वाक्य वक्ता के

---

१. प्राथम्यादभिधातृत्वात् तात्पर्यावगमादपि।
पदानामेव सा शक्तिर्वरमभ्युपगम्यताम्॥
—प्रक० पञ्चिका, वा० मा०, का० ११।

२. वाक्यस्य द्विविधं तात्पर्यम्, अवान्तरतात्पर्यं महातात्पर्यं चेति।
—न्या० रत्नमाला, वा० निर्णय, टिप्पणीभाग।

३. वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥
—श्लो० वा०, वाक्याधिकरण, का० ३४३।

४. काममतिदिश्यतां सच्चासच्चाऽपि नेहभारोऽस्ति!
कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्यं वक्तर्यधीनं हि॥ म० भा०, १।१।५७

ही अधीन होता है। अतः वक्तृतात्पर्य की उपपत्ति के लिये वाक्य अथवा पद का अध्याहार अपेक्षित हो तो वह भी करणीय है। महाभाष्यकार के "वाक्यं वक्तर्यधीनं हि" इस कथन से यह प्रतीत होता है कि तात्पर्य शब्द से उनका अभिप्राय वक्ता की इच्छा से ही है। वक्तरि पद में सप्तम्यन्त का भी स्वारस्य वक्ता के अन्दर विद्यमान इच्छा, यह अर्थ करने पर ही समीचीन हो सकेगा। यदि उक्त अर्थ अपेक्षित न होता तो "वक्तुरधीनम्" शब्द का प्रयोग करना ठीक होता।

नानार्थस्थल में प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति कराने के लिये न्यायदर्शन के अनुसार भी वक्ता की इच्छा को तात्पर्यस्वरूप की मान्यता प्रदान की गयी है[1]।

तात्पर्यवादी आचार्य

भारतीय शब्दशास्त्रियों की परम्परा में समादृत तात्पर्यवृत्ति के समर्थक आचार्यों को दो धाराओं में विभाजित करना औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। प्रथम अविरामवादी अथवा नैरन्तर्यवादी वे आचार्य है जो अभिधा का विराम नहीं स्वीकार करते। मीमांसकों के अवान्तर व्यापार एवं महाव्यापार की तरह अभिधावृत्ति वाच्यार्थ रूप वाक्यार्थ को प्रतीति कराकर व्यङ्ग्यार्थ रूप तात्पर्य की प्रतीति महाव्यापार के द्वारा करा देती है। इस सम्प्रदाय के आचार्यों में भोजराज, शारदातनय, धनञ्जय, राजशेखर तथा कुन्तक के नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि ये भी तात्पर्यवादी आचार्य कहे जाते हैं, किन्तु इन्होंने तात्पर्य एवं अभिधा में किसी प्रकार का अन्तर नहीं किया है। अपने मत के समर्थन में ये बाण का दृष्टान्त देते हैं। जैसे वेगाख्य व्यापार से युक्त एक ही बाण शत्रु के शरीर में प्रवेश, हृदयविदारण, एवं प्राणहरण रूप अनेक कार्यों को करने में समर्थ होता है, कार्यों को सम्पादित करने के अनन्तर ही वह अपने व्यापार से विरत होता है, उसी प्रकार शब्द एक ही अभि-व्यापार से युक्त होता हुआ वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्यार्थ (तात्पर्यार्थ) की प्रतीति कराकर अपने व्यापार से विरत होगा। नैरन्तर्यवादी अथवा अविरामवादी आचार्यों को भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथमवर्ग के अन्तर्गत आने वाले समालोचक हैं धनञ्जय, राजशेखर तथा कुन्तक। ये आचार्य अभिधा का ही प्रसरण अन्तिम अर्थ की प्रतीति कराने के लिए स्वीकार करते हैं।[2]

---

१. वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम्।—न्या० सि० मु०, श०खं०, का० ८४।
२. डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, आनन्दवर्धन पृ० २५०

धनंजय

धनंजय ने अपनी कृति दशरूपक में रसमीमांसा के सम्बन्ध में कहा है कि वाक्यार्थ एवं रस की स्थिति तुल्यरूप वाली है। प्रकरणादिक के द्वारा वाक्य में प्रयुक्त कारकों के सहयोग से वाक्यान्तर्गत शब्दों के द्वारा क्रिया का बोध होता है। वाक्यार्थ क्रिया ही है। अतः यदि किसी वाक्य में क्रिया का उपादान न भी हो तो वहाँ क्रिया का अध्याहार करके उसी को वाक्यार्थ बना लेना चाहिए। इसी प्रकार विभावादिक के द्वारा स्थायीभाव भी वाक्यार्थ रूप में प्रतीत होता है।[1] उक्त तथ्य के प्रतिपादन के सम्बध में धनंजय ने किसी वृत्तिविशेष का उल्लेख नहीं किया है। वाक्य में प्रयुक्त अथवा अध्याहृत क्रिया ही वाक्यार्थ अथवा तात्पर्यार्थ है यह कथन तो उन्हें निश्चय ही तात्पर्यवादी आचार्यों की श्रेणी में खड़ा कर देता है किन्तु शब्दतः वाक्यार्थप्रतीति के लिये इनकी कारिकाओं में तात्पर्य जैसी पृथक् वृत्ति का उल्लेख नहीं मिलता। वाक्यार्थ में क्रिया की वाच्यता का उल्लेख इन्हें मीमांसकों का अनुयायी सिद्ध करता है। सम्भवतः धनंजय को यह प्रेरणा मीमांसा दर्शन से ही मिली होगी। मीमांसा में विधि-लक्षण समस्त वेद वाक्यों का प्रधान तात्पर्य क्रिया कलाप में ही है।[2] इस स्थिति में इन्हें तात्पर्यवादी उन आचार्यों की श्रेणी में रखना संगत होगा जो वाक्यार्थ अथवा तात्पर्यार्थ की की प्रतीति के लिये अभिधा से अतिरिक्त व्यापारान्तर की सत्ता नहीं स्वीकार करते अपितु अभिधा का ही दीर्घदीर्घतर व्यापार सभी अर्थों की प्रतीति कराने में अपना सामर्थ्य रखता है इस मान्यता को मानने वाले हैं।

राजशेखर

राजशेखर को भी अभिधावादी आचार्यों की ही श्रेणी में रखा जा सकता है। अपनी कृति काव्यमीमांसा में इन्होंने अभिधा से अतिरिक्त किसी अन्य वृत्ति का उल्लेख तक नहीं किया है। यद्यपि राजशेखर ने आनन्दवर्धन की अनेक मान्यताओं को उल्लिखित किया है किन्तु इनके ध्वनिसिद्धान्त एवं व्यंजनावृत्ति का स्पर्श तक

---

१. वाच्यप्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथाक्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः।

—दशरूपक, च० प्र०, ३७

२. आम्नायस्य च क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।

—मीमांसासूत्र, १/२/१।

नहीं किया है। निष्कर्षतः यह कहना उचित है कि ये ध्वनिसिद्धान्त एवं व्यंजनावृत्ति को नहीं स्वीकार करते। ये मात्र अभिधावादी आचार्य हैं।

कुन्तक

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ध्वनिसिद्धान्त से सुपरिचित होते हुए भी वक्रोक्तिजीवित नामक अपनी कृति में ध्वनिसिद्धान्त की चर्चा तक नहीं करते। इन्हें एकमात्र अभिधावृत्ति ही अभिमत है। काव्य की आत्मा वक्रोक्ति भी अभिधा से भिन्न नहीं है। अतः इन्हें भी अभिधावादी आचार्य मानना समीचीन जान पड़ता है।

इन अभिधावादी समालोचकों की स्थिति यह है कि ये काव्यशास्त्र में अभिधा के अतिरिक्त किसी भी अन्यवृत्ति लक्षणा, व्यंजना एवं तात्पर्य का उल्लेख नहीं करते। अतएव इन्हें भट्टलोल्लट की दीर्घदीर्घतरव्यापार वाली अभिधावृत्ति का समर्थक माना जा सकता है। उक्त मत भी मीमांसकैकदेशी का ही मत है, जो एक ही अभिधारूप व्यापार का पर्यवसान तात्पर्यीभूत अर्थ में ही मानता है।

तात्पर्यवादी आचार्यों की अगली परम्परा में वे समालोचक आते हैं जो अभिधा के अतिरिक्त तात्पर्यवृत्ति का भी उल्लेख करते हैं। इतना ही नहीं इन आचार्यों ने तात्पर्यवृत्ति को ही वाक्य के तात्पर्यार्थावगमन हेतु पर्याप्त माना है। इन समालोचकों ने एक स्वर से तात्पर्यवृत्ति का पूर्ण समर्थन किया है। इनमें भोजराज, शारदातनय, साहित्यमीमांसाकार एवं धनिक उल्लेखनीय हैं।

भोज

भोज ने शृङ्गारप्रकाश में तात्पर्यवृत्ति का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। ये ध्वनि एवं तात्पर्य में भेद नहीं मानते। लौकिक काव्य में जिसे तात्पर्य कहा जाता है वही काव्य में ध्वनि है।[1] 'यत्परः शब्द स शब्दार्थः' इस मीमांसामूलक तात्पर्य से भोजदेव का अभिप्राय वक्तृविवक्षा से ही है। इस तात्पर्य शक्ति के अभिधीयमान,

---

१. तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये
सौभाग्यमेव गुणसम्पदि वल्लभस्य।
लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनायाः
शृङ्गार एव हृदि मानवतो जनस्य॥

— शृङ्गार प्रकाश, षष्ठ प्रकाश

प्रतीयमान एवं ध्वनिरूप ये तीन भेद होते हैं।[1] अभिधीयमान तात्पर्य वहाँ होता है जहाँ कि वाक्य में उपात्त शब्द का अर्थ शब्द-शक्तियों के द्वारा अभिहित किया गया हो तथा आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि से वाक्यार्थ की प्रतीति हो रही हो। इस अभिधीयमान तात्पर्य में शब्दशक्ति पदार्थमात्र की प्रतीति कराकर उपक्षीण हो जायगी। इसके बाद अन्वयांशस्वरूप वाक्यार्थ की प्रतीति तात्पर्यशक्ति के द्वारा होगी। ऐसी स्थिति लौकिक, गौर्गच्छति इत्यादि वाक्यों में पायी जाती है। भोज का यह अभिधीयमान मीमांसकों का अन्वयांश बोध कराने वाली तात्पर्य-वृत्ति से साम्य स्थापित करता है। तात्पर्य का प्रतीयमान भेद वहाँ होता है जहाँ वाक्यार्थ की प्रतीति हो जाने के बाद संगत अथवा असंगत वाक्यार्थ हो जब प्रकरणादि के सहकार से अपरार्थ की प्रतीति कराता हो। इसका उदाहरण "विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्ष्व" दिया है। यहाँ वाक्यार्थ की असंगति होने पर प्रकरणादि के बल से, विषभक्षण करना ठीक है, इसके घर में खाना ठीक नहीं है, इस अर्थ की प्रतीति तात्पर्यवृत्ति से होती है, जिसे प्रतीयमान की संज्ञा दी जाती है। इस प्रतीयमान के अनेक भेद ग्रन्थकार ने प्रदर्शित किये हैं। आलंकारिकों के प्रसिद्ध उदाहरण "भ्रम धार्मिक विश्रब्धः" इत्यादि गाथा को विधि में निषेध रूप प्रतीयमान के भेद के अन्तर्गत समाहित किया है। वाक्यार्थ की प्रतीति, निश्चिन्त होकर भ्रमण करो इस विधिरूप में होती है 'किन्तु निकुञ्ज में सिंह रहता है और तुम कुत्ते से भी डरते हो अतः तुझे वहाँ नहीं जाना चाहिये, इस निषेधरूप अर्थ की प्रतीति ही प्रतीयमान मानी जाती है जो तात्पर्यवृत्तिबोध्य है। इसी प्रकार प्रतीयमान के निषेध में विधि, विधि में विध्यन्तर, निषेध में निषेधान्तर, इत्यादि अनेक भेद शृंङ्गार में उपलब्ध होते हैं। जिस अर्थ की प्रतीति के लिये ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यंजना व्यापार को मान्यता प्रदान की है उसी अर्थ की प्रतीति के लिये भोजराज तात्पर्यशक्ति का उपयोग करते हैं और उसे व्यंग्यार्थ न कहकर तात्पर्यार्थ कहते हैं। तात्पर्य के तृतीय प्रकार ध्वनि के अनेक भेद किये जा सकते हैं। क्योंकि प्रतीयमान एवं अभिधीयमान वाक्यों का आनन्त्य देखा जाता है। स्थूल दृष्टि से इसे शब्दध्वनि एवं अर्थध्वनि इन दो भेदों में विभक्त किया गया है। शब्द एवं अर्थ ध्वनि के भी अनुनादध्वनि एवं प्रतिशब्दध्वनि रूप से दो भेद होते हैं। इन ध्वनियों के उदाहरण भोजराज ने अनेक प्रकार से दिये हैं।[2] भोजराज के इस तात्पर्यवृत्ति

१. तच्च वाक्यप्रतिपाद्यं वस्तु त्रिरूपं भवति-अभिधीयमानम्,
प्रतीयमानं ध्वनिरूपं च।—शृङ्गारप्रकाश, स० प०।

२. शृङ्गारप्रकाश स० परि०।

सम्बन्धी वर्गीकरण से इनका तात्पर्य के प्रति झुकाव लक्षित हो जाता है। ये ध्वनिवादियों की व्यंजना का अन्तर्भाव तात्पर्य में ही स्वीकार करते हैं। तात्पर्य के अनेक भेदोपभेदों की परिकल्पना भोजराज की अभिनव एवं मौलिक सूझ प्रतीत होती है।

शारदातनय

शारदातनय ने अपने ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' में भोज की ही भांति तात्पर्य के अभिधेय, प्रत्याय्य एवं ध्वनिरूप ये तीन भेद किये हैं। ये काव्य में रसादि-रूप अर्थ की गम्यमानता तात्पर्यवृत्ति द्वारा ही स्वीकार करते हैं।[1] भोजराज के शब्द-शक्ति सिद्धान्त को यथावत् स्वीकार करते हुए इन्होंने ध्वनि एवं तात्पर्य में अन्तर भी स्पष्ट किया है। इनके अनुसार ध्वनि तात्पर्य का उसी प्रकार एक भेद है जिस प्रकार प्रथम आश्रम में रहने वाला ब्रह्मचारी ब्राह्मण का। इनके अनुसार तात्पर्य का क्षेत्र विस्तृत है, ध्वनि का क्षेत्र संक्षिप्त। रस-अलंकारादिक-रूप अर्थ ध्वनि नामक तात्पर्य से ही बोध्य है। शारदातनय तीनों प्रकार के तात्पर्यों को वाक्य का धर्म मानते हैं। इनके अधिकांश विषय शृङ्गारप्रकाश के अनुसार ही निरूपित प्रतीत होते हैं। अतः इन्हें भोजराज का ही अनुयायी मानना उचित जान पड़ता है।

रूय्यक

साहित्यमीमांसाकार रूय्यक अथवा मंखक भी व्यंजना-शक्ति के स्थान पर तात्पर्य-शक्ति को ही स्वीकृति प्रदान करते हैं। रसादिरूप वाक्यार्थ की प्रतीति के लिये इन्होंने तात्पर्यवृत्ति को ही उपयोगी बताया है।[2] अतः इन्हें भी तात्पर्यवादी आचार्य माना जा सकता है। रूय्यक पूर्णतः तात्पर्यवादी आचार्य इसलिए नहीं कहे जा सकते कि इन्होंने अपनी कृति अलंकार-सर्वस्व में ध्वनि का भी स्पष्ट समर्थन किया है। इसका एक मात्र कारण यही हो सकता है कि लेखक आनन्द-वर्धन एवं अभिनवगुप्त के प्रचारित ध्वनिसिद्धान्त से प्रभावित होकर अपने स्वयं के सिद्धान्त तात्पर्यशक्ति पर आस्था खो बैठा हो। जो भी हो यह ग्रन्थकार की

---

१. अतो ध्वन्याख्यतात्पर्यगम्यमानत्वतः स्वतः।
काव्ये रसालङ्क्रियादिः वाक्यार्थो भवति स्फुटम्॥ —भावप्रकाशन।

२. साहित्यमीमांसा, पृ० ८५।

दुर्बलता ही कही जायेगी जिसके फलस्वरूप उसे अपनी विभिन्न कृतियों में अलग-अलग सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये बाध्य होना पड़ा हो। साथ ही साथ दूसरा तर्क यह भी दिया जा सकता है कि साहित्यमीमांसा एवं अलंकारसर्वस्व के रचयिता भिन्न-भिन्न हैं। मीमांसाशास्त्र के अनुयायी साहित्यमीमांसाकार ध्वनिसिद्धान्त को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार ही नहीं कर सकते।

धनिक

तात्पर्यवृत्ति के सबसे प्रबल समर्थक एवं प्रौढ़ समालोचक धनिक हैं। धनिक ने दशरूपक की अवलोक नामक वृत्ति में अत्यन्त पाण्डित्य के साथ ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन करते हुए तात्पर्यवृत्ति की स्थापना की है। अवलोकवृत्ति के अतिरिक्त धनिक ने अपनी रचना काव्य-निर्णय में व्यञ्जना का खण्डन करते हुए तात्पर्य-वृत्ति का विशदरूप से विवेचन प्रस्तुत किया था, किन्तु दुर्भाग्यवश काव्यनिर्णय अनुपलब्ध है। काव्यनिर्णय का उल्लेख धनिक ने स्वयं अवलोक में किया है।[1] धनिक के अवलोक में जिस तात्पर्यशक्ति की सिद्धि की गयी है वह व्यञ्जना स्थानीया है। सात कारिकाओं में पूर्वपक्ष एवं उत्तर पक्ष के रूप में तात्पर्यशक्ति वर्णित हुई है। ये तात्पर्य को यावत्कार्यप्रसारी बताते हैं। जब तक विवक्षित विषय प्रतीत नहीं हो जाता तात्पर्यशक्ति पर्यवसित नहीं होती। लौकिक समस्त वाक्य विवक्षाधीन ही तो होते हैं। वाक्य का प्रयोग ही विवक्षित विषय के प्रकाशनार्थ किया जाता है। अतः जब तक वक्ता की विवक्षा बनी रहेगी तब तक तात्पर्यशक्ति विश्रान्त न होगी। ध्वनिवादियों की "भ्रम धार्मिक विश्रब्धः" इस गाथा से जब तक निषेधरूप अर्थ की प्रतीति न होगी तब तक तात्पर्यशक्ति की विश्रान्ति नहीं मानी जायेगी।[2] धनिक के अनुसार समस्त लौकिक एवं वैदिक वाक्य कार्यपरक ही होते हैं। लोक में शब्दों की कार्यपरता तो दृष्ट है ही वैदिक "विश्वजिता यजेत" इत्यादि वाक्य भी स्वर्गादिरूप कार्यपरक ही माने जाते हैं। शब्दों की कार्यपरता न रहने पर उन्हें उन्मत्त प्रलाप कहा जाता है और वे त्याज्य माने जाते हैं। इस प्रकार कार्यपरता एवं शब्दों में अन्वयव्याप्ति की रूपता

१. ईदृशि च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिताभिधादिशक्ति-वशेनैव समस्तवाक्यार्थावगतेः शक्त्यन्तरपरिकल्पनप्रयासः यथावोचाम् काव्यनिर्णये। —दशरूपक, च० प्र०: अवलोक टीका।

२. दशरूपक, च० प्र०, अवलोक टीका।

आ जाती है। काव्य-शब्दों का प्रयोग अतिशय आनन्दजननरूप कार्य के लिए किया जाता है। इस आनन्दानुभूति के हेतु विभावादिक एवं स्थायीभाव ही है। अभिधाशक्ति विभावादिक की प्रतीति कराती है, किन्तु रसरूप वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति तात्पर्यशक्ति से ही होती है। आनन्दानुभूति जिसे काव्य के वाक्यों की कार्यरूपता धनिक ने माना है तात्पर्यवृत्ति के द्वारा ही गम्य है।[1] इस स्थिति में धनिक के अनुसार रस भी व्यंग्य नहीं है। रस के सम्बन्ध में धनिक की मान्यताओं का उल्लेख अग्रिम प्रकरणों में किया जायेगा।

मीमांसादर्शन में जिस तात्पर्य का उल्लेख हुआ है, धनिक ने उसी तात्पर्य को काव्यशास्त्रीय ढांचे में रखकर उसे व्यंजनास्थानीय बनाया है। ये ध्वनिसिद्धान्त को जो काव्यशास्त्र में आनन्दवर्धन द्वारा प्रचलित किया गया, नहीं स्वीकार करते। तात्पर्यवृत्ति की इयत्ता का निर्धारण नहीं हो सकता इसके लिये धनिक का यह वाक्य "तात्पर्यं न तुलाधृतम्" सहृदय समाज में परम प्रसिद्ध है।

तात्पर्यवृत्ति के प्रचार-प्रसार का अभाव

इन तात्पर्यवादी समालोचकों द्वारा तात्पर्यवृत्ति की काव्यशास्त्र में स्थापना किये जाने पर भी परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने इसकी उपेक्षा की। फलतः व्यञ्जना की अपेक्षा इसकी परम उपादेयता होते हुए भी इसे काव्यशास्त्र में उचित स्थान न मिल सका। यदि तात्पर्यवादी आचार्यों की ओर दृष्टिक्षेप किया जाय तो उनमें भी शुद्ध रूप से कम ही ऐसे लोग हैं जिन्होंने तात्पर्यवृत्ति की व्याख्या निष्पक्ष रूप से प्रस्तुत की है। ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के बाद संस्कृत काव्यशास्त्र पर इसका इतना विशेष प्रभाव पड़ा कि लोग इसी सिद्धान्त की समीक्षा में पूर्णरूप से लीन ही गये। समूचे काव्यशास्त्र के उपादान ध्वनि से सम्बन्धित बना दिये गये। फलतः समालोचना का क्षेत्र संकुचित होता गया। पिष्टपेषण की इस प्रवृत्ति ने चिन्तन की धारा को सर्वथा अवरुद्ध कर दिया। ऐसी स्थिति में तात्पर्यवृत्ति का समालोचना-क्षेत्र से तिरोहित हो जाना स्वाभाविक था। जिस तात्पर्यवृत्ति की अवतारणा मीमांसाशास्त्र से हुई, इसके सम्बन्ध में मीमांसकों ने भी अपनी उदार दृष्टि का परिचय नहीं दिया। काव्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धान्त एवं व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना होते ही नव्यवैयाकरणों ने इसके सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। नागेशभट्ट ने तो व्यञ्जना पर एक

---

१. दशरूपक, च० प्र०, अवलोक टीका।

लघुप्रकरण ही लिख डाला[1] । यद्यपि प्राचीन वैयाकरण अभिधा से अतिरिक्त किसी भी वृत्ति को नहीं मानते है, तथापि परवर्ती नव्यवैयाकरणों ने ध्वनिसिद्धान्त एवं व्यञ्जनावृत्ति को लोकप्रिय बनाने के लिये इसे मान्यता प्रदान कर दी। ऐसी स्थिति तात्पर्यवृत्ति के सम्बन्ध में न हो सकी। प्रत्युत् कतिपय आलोचकों को इसे मीमांसा शास्त्र से बहिर्भूत बताने में भी संकोच का अनुभव नहीं हुआ।[2] किसी भी सिद्धान्त का स्वरूप उसके मूलभूत उद्गम स्थान में उतना स्पष्ट एवं विकसित नहीं दिखायी पड़ता जितना कि प्रतिभाशाली समालोचकों के द्वारा उसके स्वरूप को यथार्थरूप में उपस्थापित कर दिये जाने पर हो जाता है। जिस ध्वनिसिद्धान्त को वैयाकरणों द्वारा अनुमोदित बताया जाता है, जिसे वैयाकरणों द्वारा चर्चित कहा गया है उसका स्वरूप व्याकरण शास्त्र में बिल्कुल भिन्न सा है। पर खेद है कि इस विभिन्नता के होते हुए भी कतिपय व्याकरण-शास्त्रकारों ने भी इसे प्रभावशाली बनाने के लिए प्रयत्न किए और ऐसा करते समय उन्होंने आलोचनात्मक दृष्टि न रखी, प्रत्युत् इसके समर्थन में ही अपनी शक्ति का उपयोग किया।

दूसरी ओर तात्पर्यवृत्ति के विरोधियों ने निष्पक्ष दृष्टिकोण नहीं रखा।। जहाँ तात्पर्यवृत्ति के खण्डन का अवसर आया वहाँ अन्वयांशबोधन में ही इसकी उपक्षीणता दर्शित करते हुए इसे व्यंग्यार्थबोध के प्रति सामर्थ्यहीन सिद्ध करने का भ्रामक एवं रोचक प्रयास किया। जबकि अन्वयांशबोध के लिए जिस तात्पर्याख्या शक्ति को माना जाता है वह व्यंजनास्थानीया तात्पर्यवृत्ति से नितान्त भिन्न है। इस प्रकार पूर्वपक्ष में इसके यथार्थ स्वरूप के स्थान पर इसका भ्रामक रूप रखा गया। परिणाम-स्वरूप इसके प्रति लोगों का आकर्षण समाप्त होता गया। ध्वनिवादी आचार्यों की समस्त कृतियों की पर्यालोचना से यही प्रतीत होता है कि व्यंजनास्थानीया तुरीया तात्पर्यवृत्ति की ओर अत्यन्त न्यून रूप से समालोचकों का ध्यान आकृष्ट हुआ था, जिससे स्थिति ऐसी हो गयी कि सर्वत्र "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापारभावः" इस न्याय को अवसर मिला और तात्पर्यवृत्ति को द्वितीय कक्ष्या में ही क्षीण बता दिया गया। यदि इसके स्वरूपों का समुद्घाटन किया गया होता तो निश्चय ही ध्वनिसिद्धान्त की अपेक्षा इसके प्रचार-प्रसार का उचित अवसर सम्भव हो पाता।

---

१. परम लघुमञ्जूषा, व्यंजना प्रकरण।

२. डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डेय : ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० १५।

४

चतुर्थ अध्याय

संस्कृत काव्यशास्त्र में व्यंजनाशक्ति का सिंहावलोकन

ध्वनिसिद्धान्त का उद्गम

काव्यशास्त्र में ध्वनिसम्प्रदाय एवं व्यंजनावृत्ति का सर्वप्रथम सुव्यवस्थित प्रस्तुतीकरण आनन्दवर्धन द्वारा हुआ है। आनन्दवर्धन के पूर्व भी साहित्यशास्त्र में व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता मान्य थी, किन्तु इसके लिये व्यंजना एवं व्यङ्ग्यार्थ जैसे परस्पर सापेक्ष शब्दों का प्रयोग नहीं प्रचलित था। काव्य में रसादि रूप चमत्काराधायक तत्त्वों की अनुभूति इसके पूर्व भी होती थी किन्तु किसी भी आचार्य ने इसके लिये व्यङ्ग्य-व्यञ्जक का व्यवस्थित प्रयोग नहीं किया था। भरत से लेकर रुद्रट तक सभी समालोचक ध्वनि-सिद्धान्त से अपरिचित से जान पड़ते हैं। भले ही उनके विकीर्ण तत्त्वों को लेकर उनका सम्बन्ध ध्वनि-तत्त्व से स्थापित किया जाय किन्तु वास्तविकता यह है कि वे ध्वनि एवं व्यंजनाव्यापार से नितान्त अछूते थे।

ध्वन्यालोक के अनुसार इस सिद्धान्त के प्रवर्तन की प्रेरणा वैयाकरणों से प्राप्त हुई है।[1] वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त में व्यवहृत ध्वनि शब्द का प्रयोग आनन्दवर्धन ने काव्यात्मा के लिये किया है। अतः स्पष्ट है कि वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त पर ही ध्वनि-सिद्धान्त आधारित है। फलस्वरूप स्फोट-सिद्धान्त की भी रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत करनी आवश्यक है।

---

१. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणः। व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः।

—ध्वन्या०, प्र० उ०, वृत्तिभाग।

स्फोट सिद्धान्त

महाभाष्यकार पतंजलि ने शब्द के स्फोटात्मक एवं ध्वन्यात्मक दो रूपों को मान्यता प्रदान की है। इनमें से स्फोटात्मक शब्द को ही मुख्य बताया है। स्फोट की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए इन्होंने स्फोट को शब्द एवं ध्वनि को गुण बताया है।[१]

वैयाकरण वर्णादि-व्यतिरिक्त एक पृथक् तत्त्व स्फोट की कल्पना करते हैं। ये वर्णों की वाचकता स्वीकार ही नहीं करते। वर्णों की वाचकता मानने पर उन्हें शक्ति का आश्रय नहीं बनाया जा सकता। वर्णों की वाचकता को लेकर दो प्रकार के पक्षों की उद्भावना की जा सकती है। किसी पद के अन्तर्गत समस्त वर्णों को वाचक मानने पर एक ही वर्ण से अर्थ की प्रतीति सम्भव हो जायेगी पुनः इतर वर्णों का उच्चारण निरर्थक हो जायेगा। अतः प्रत्येक वर्ण की वाचकता का पक्ष ग्राह्य नहीं हो सकता। दूसरी स्थिति यह है कि पद के अन्तर्गत आये हुए समस्त वर्ण समुदायरूप से एक ही अर्थ की प्रतीति कराते हैं। इस द्वितीय स्थिति को मानने पर भी सबसे बड़ा दोष यह उपस्थित होता है कि द्वितीय वर्ण के उत्पत्ति-काल में प्रथम वर्ण की स्थिति ही न रहेगी क्योंकि वर्ण उच्चरितप्रध्वंशी होते हैं।[२] महाभाष्यकार पतंजलि भी द्वितीय वर्णोंच्चारण की वेला में प्रथम वर्ण की स्थिति नहीं स्वीकार करते हैं।[३] ऐसी दशा में वर्णों के समुदाय को अर्थ का वाचक मानना सम्भव ही नहीं है। अतएव शक्त्याश्रय को उपपन्न करने के लिये वैयाकरणों ने वर्णपदादि-व्यतिरिक्त स्फोट-तत्त्व की कल्पना की है। वैयाकरण इस स्फोटात्मा शब्द को नित्य एवं विभु भी मानते हैं। इसे अनादि एवं अविनाशी भी बताते हैं।[४]

---

१. एवं तर्हि स्फोटः शब्दः, ध्वनिः, गुणः।
—म० भा० १/१/६९

२. उच्चरितप्रध्वंसित्वेन यौगपद्यासम्भवात्
—वै० सि० ल० मंजूषा, शक्त्याश्रयनि

३. यावद्गकारे वाग् वर्तते न तावदोकारे इति येनैव यत्नेनैको वर्ण उच्चार्यते तेनैव विच्छिन्ने तस्मिन् वर्णे उपसंहृत्य तं यत्नमन्यं यत्नमुपादाय द्वितीयः प्रवर्तते।
—म० भा०, १/४/१०९

४. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ —वा० प०, ब्र० काण्ड का० १

इस स्फोट शब्द की कर्म एवं करणरूप दो प्रकार की व्युत्पत्तियाँ होती हैं। 'स्फुट्यते ध्वनिना अभिव्यज्यते इति' यह स्फोट की कर्म व्युत्पत्ति है तथा स्फुटत्यर्थोऽनेन इति' यह इसकी करण-व्युत्पत्ति है। दोनों व्युत्पत्तियों से ध्वनि से व्यङ्ग्य होता हुआ जो अर्थ-विषयक बोध का जनक हो, इस स्फोट-लक्षण की प्रतीति होती है।

इस स्फोट-तत्त्व को मानने पर भी वही दोष उपस्थित होता है जो दोष वर्णों की वाचकता के पक्ष में है। स्फोट की अभिव्यक्ति प्रत्येक वर्ण से होती है अथवा वर्णसमुदाय से—दोनों स्थितियों में पूर्वोक्त दोष का अवसर उपस्थित हो जाता है। अतः उक्त दोष-निरास के लिये शब्दशास्त्रियों ने यह कहा है कि गौ शब्द में गकार के द्वारा स्फोट की अस्फुट अभिव्यक्ति और औकार के द्वारा स्फुट अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार स्फोटरूप शब्द के मानने पर वर्णवाचकता के दोषों की उद्भावना नहीं की जा सकती है। इस सम्बन्ध में भर्तृहरि ने भी अपना मत प्रस्तुत किया है।[1]

इस स्फोटरूप शब्द की जिसे वैयाकरणों ने नित्य, विभु एवं एक माना है, अभिव्यक्ति ध्वनिरूप शब्द से होती है। पतंजलि ने शब्द के दो विभागों में स्फोटात्मा शब्द के साथ ध्वनिरूप शब्द का भी उल्लेख किया है।[2] चार प्रकार की वाक् व्याकरणशास्त्र में मान्य है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी। इन चारों में से कौन सी ध्वनि स्फोट की व्यञ्जिका होती है इसका भी समाधान व्याकरण-ग्रन्थों में किया गया है तथा वैखरीरूप मध्यमा ध्वनि को ही स्फोट-व्यंजक के रूप में माना गया है।[3] वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने वैखरी वाणी को हीं प्राकृत एवं वैकृत—इन दो रूपों में विभक्त माना है। तदनुसार प्राकृत ध्वनियों के द्वारा अभिव्यक्त स्फोट में वैकृत ध्वनियों के कारण ही वृत्तिभेद होता है। द्रुत, विलम्बित इत्यादि वृत्तियों में वैकृत ध्वनियाँ ही कारण हैं।[4]

---

१. वाक्यस्य बुद्धौ नित्यमर्थयोगं च लौकिकम्।
दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ॥ —वा० प०, २/३४८

२. अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।
—म० भा०, पस्प०, १।१

३. तत्र मध्यमायां यो नादांशस्तस्यैव स्फोटात्मनो वाचकत्वेनाक्षतिः।
वै० सि० ल० मंजूषा, शक्त्याश्रयनिव

४. प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते।
शब्दस्योध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः॥ —वा० प०, १७७

इस प्रकार वैयाकरण सम्प्रदाय में प्राकृत ध्वनि द्वारा स्फोट की व्यञ्जकता के साम्य पर साहित्यशास्त्रियों ने व्यंजक तत्त्व को ध्वनि अभिधान प्रदान किया है।[1] वैयाकरणों ने जिस अनित्य ध्वनि से नित्यस्फोटात्मा शब्द की अभिव्यक्ति मानी थी, अंलकार-शास्त्र में उसी ध्वनि की व्यञ्जकता को लेकर उसका प्रयोग अभिनवगुप्त ने पाँच अर्थों में किया है। १-२ कर्तृव्युत्पत्तिपरक "ध्वनति ध्वनयति वा यः शब्दः अर्थो वा स ध्वनिः" इस व्युत्पत्ति के आधार पर ध्वनि शब्द का प्रयोग शब्द एवं अर्थ दोनों के लिये किया गया है। ३–कर्म-व्युत्पत्ति मानकर "ध्वन्यते यः स ध्वनिः" इस व्युत्पत्ति के बल से व्यङ्ग्य अर्थ को ध्वनि संज्ञा प्रदान की जाती है। ४–भावव्युत्पत्ति को लेकर "ध्वननं ध्वनिः अथवा ध्वन्यते अनेन इति वा ध्वनिः" इस व्युपत्ति के आधार पर ध्वनि शब्द का व्यवहार व्यञ्जना-व्यापार के लिये किया जाता है। ५–इसके अतिरिक्त ध्वनि शब्द का प्रयोग व्यंजक-शब्दार्थ व्यङ्ग्य अर्थ एवं व्यञ्जनाव्यापार से युक्त काव्य के लिये किया जाता है —ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने ध्वनि शब्द को अर्थविकास के माध्यम से काव्य के लिये व्यापक तत्त्व के रूप में स्वीकृति प्रदान कर दी है। वैयाकरणों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग अनित्य वैखरी वाणी के लिये किया, जो कि मात्र व्यञ्जक है वाचक तो कदापि है ही नहीं किन्तु अभिनवगुप्त ने ध्वनि शब्द का प्रयोग अभिधोत्तर समस्त व्यापारों के लिये किया। व्याकरण-सम्प्रदाय में व्यञ्जक एवं व्यङ्ग्य शब्द का प्रयोग शब्दमात्र के लिये होता है, जबकि ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यंग्य अर्थ को माना है, शब्द को व्यंग्य तो वे मान ही नहीं सकते। इस प्रकार सैद्धान्तिक विभेद के होते हुए भी व्यञ्जकत्व के साम्य को लेकर ध्वनि शब्द का व्यवहार साहित्यशास्त्र में चल पड़ा, भले ही व्याकरण के ध्वनि शब्द और साहित्य के ध्वनि-प्रयोग में पर्याप्त अन्तर हो। इसकी समीक्षा अग्रिम प्रकरणों में प्रस्तुत की जायगी।

व्यञ्जना-व्यापार

ध्वनिवादियों का सारा ध्वनिसिद्धान्त व्यञ्जना व्यापार पर ही आधारित है। काव्य में व्यंग्यार्थप्रतीति के लिये व्यञ्जना वृत्ति मानी गयी है। व्यञ्जना-वृत्ति के समर्थक आचार्यों की यह मान्यता है कि काव्य में व्यंग्यार्थ के अवगमन के लिये शक्ति, लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्तियाँ सामर्थ्य नहीं रखती। इन वृत्तियों का

१. व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः। —ध्वन्या०, प्र० उ०, वृत्तिभाग।

व्यापार विरत हो जाने के अनन्तर ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। शब्द से अर्थ की प्रतीति बिना किसी वृत्ति के सम्भव ही नहीं है। ऐसी स्थिति में उक्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जनाव्यापार को मानना आवश्यक है।

व्यञ्जना की परिभाषा

नागेशभट्ट के मत में

नागेशभट्ट ने व्यञ्जनावृत्ति की परिभाषा निबद्ध करते हुए इसके स्वरूप की मीमांसा प्रस्तुत की है। ये संस्कार-विशेष को व्यञ्जना मानते हैं।[1] साथ ही साथ अभिधा एवं लक्षणा से इसका वैशिष्ट्य स्थापित करने के लिये इसके लक्षण के आकार में अन्य तथ्यों को भी सम्बद्ध किया है। लक्षणाजन्य ज्ञान में मुख्यार्थ-बाध की हेतुता रहती है किन्तु व्यञ्जना मुख्यार्थ-बाध की अपेक्षा के बिना ही बोध कराने में सक्षम है। लक्षणा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ की ही प्रतीति करा सकती है, किन्तु व्यञ्जना के लिए यह आवश्यक नहीं है कि यह मुख्यार्थ से सम्बद्ध ही अर्थ की प्रतीति कराने में नियन्त्रित हो सके। यह वृत्ति संस्कारविशेषरूपा होती हुई मुख्यार्थ से सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध अर्थों का बोध कराती है। अभिधा-वृत्ति मुख्यार्थ-सापेक्ष है। वह केवल सङ्केतित अर्थ में ही प्रवृत्त होती है। किन्तु व्यञ्जना के लिये संकेतग्रह की अपेक्षा ही नहीं रहती। इस प्रकार नागेशभट्ट ने इसे अभिधा एवं लक्षणा से भिन्न मानते हुए, इसे संस्कार-विशेष स्वरूप वाली प्रतिपादित किया है। यह व्यञ्जना वक्तृ, बोद्धव्य इत्यादि सहकारी हेतुओं से सहकृत होकर ही अर्थ-विशेष की बोधिका होती है।

किन्तु आचार्य डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी का विचार है कि संस्कार-विशेष को व्यञ्जना मानने पर एक सबसे बड़ा यह दोष उपस्थित होता है कि संस्कार-विशेष तो वासनारूप है, और वासना आत्मा अथवा अन्तःकरण का ही धर्म होने से उसका शब्द और अर्थ में रहना ही सम्भव नहीं है। शब्द एवं अर्थगत व्यापारविशेष को ही वृत्ति माना जाता है। इस दृष्टि से समीक्षा करने पर नागेशभट्टकृत व्यञ्जना का रूप दोषयुक्त प्रतीत होता है।[2]

व्यञ्जना की परिभाषा डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डेय ने अपने शोधग्रन्थ में इस प्रकार दी है—'अनभिधेय अभिप्रायविशेष की रमणीय प्रत्यायना जिस शक्ति से

---

१. वै० सि० ल० मंजूषा, व्यंजना नि०।

२. पाणिनीयव्याकरणे प्रमाणसमीक्षा, पृ० २४।

होती है उसे व्यञ्जना कहते हैं"[1] जो सदोष है। क्योंकि कहीं-कहीं व्यञ्जना-वृत्तिबोध्य अर्थ में रमणीयता नहीं पाई जाती है। अतः व्यञ्जना सर्वत्र रमणीय प्रत्यायना करती है यह कहा ही नहीं जा सकता। हाँ, यह परिभाषा केवल उत्तम कोटि के व्यंग्यार्थ के सन्दर्भ में संघटित की जा सकती है। दूसरे, व्यञ्जना यदि अभिप्राय-विशेष की प्रत्यायक है तो उसे शब्दगत एवं अर्थगत नहीं माना जा सकता, क्योंकि अभिप्रायविशेष वक्तृ अथवा श्रोतृगत धर्मविशेषरूप है। किसी भी वृत्ति के स्वरूप का निर्देश करते समय उसकी शब्दार्थगत वृत्तिता पर अवश्य विचार करना चाहिए, अन्यथा वह वृत्ति का लक्षण तो कहा ही नहीं जा सकता। अतः उक्त दोषों के कारण डॉ० पाण्डेय का व्यंजना-लक्षण सर्वतोभावेन ग्राह्य नहीं हो सकता।

व्यंजनावृत्ति के रूप को स्पष्ट करने के लिये व्यंग्यव्यंजकभाव सम्बन्ध पर दृष्टिक्षेप करना आवश्यक है। इस व्यंग्यव्यंजक-सम्बन्ध को ही व्यंजना का स्वरूप मानने पर किसी भी प्रकार का दोष नहीं आपतित होता। व्यंग्यव्यंजकभाव की स्थिति सम्बन्धरूप है। अतः चाहे शाब्दी व्यंजना हो अथवा आर्थी व्यंजना हो, सर्वत्र व्यंग्यव्यंजकभाव को व्यंजनास्वरूप मानने पर इसकी वृत्तिता सुरक्षित रहती है। व्यंजनावादियों के अनुसार व्यंजक शब्द भी होता है और अर्थ भी। अतः व्यंग्यव्यंजकभाव को अखण्डोपाधिरूप से एक सम्बन्ध मानना चाहिये। इसे अखण्डोपाधिरूप एक सम्बन्ध मानने पर शब्द एवं अर्थ दोनों में इसकी स्थिति सम्भव हो सकेगी।

ध्वनिवादियों के अनुसार व्यंजनास्वरूप

व्यंजनाशक्ति के लक्षण के विषय में अलंकारशास्त्रियों ने भी विचार किया है। ध्वन्यालोक की टीका आलोचन में कहा गया है कि अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य वृत्तियों से प्रतीत होने वाले अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति होती है। इस अर्थान्तर के परिशीलन से सहृदयों की प्रतिभा पवित्र हो जाती है। इस अर्थान्तर का अवबोध व्यंजना नामक व्यापार से होता है। यह व्यापार अपने पूर्ववर्ती समस्त व्यापारों को दुर्बल करता हुआ अपनी प्रधानता स्थापित करता है।[2]

---

१. ध्वनिसिद्धान्तविरोधी सम्प्रदाय, उनकी मान्यताएँ, पृ० ७१।

२. तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः, स च प्राग्वृत्तंव्यापारत्रयं यक्कुर्वन् प्रधानभूतः काव्यात्मा। —ध्वन्या०, प्र० उ०, लोचनटीका भाग।

काव्यप्रकाश की टीका में वामनाचार्य ने शक्ति एवं लक्षणा से बोधित न होने वाले अर्थ की प्रतीति कराने वाले व्यापार को व्यञ्जना-व्यापार कहा है।[1] साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने भी उक्त व्यञ्जनास्वरूप को यथावत् रूप में मान्यता प्रदान की है। अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य वृत्तियों के विरत हो जाने पर जिस अन्य वृत्ति से वाच्य, लक्ष्य एवं तात्पर्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती हो उसे व्यञ्जनावृत्ति कहा जाता है।[2] यद्यपि वाच्यार्थ के केवलान्वयी होने से उसकी सत्ता सर्वत्र है अतः वाच्य-व्यतिरिक्त अर्थ की सत्ता ही नहीं सम्भव हो सकती तथापि तत्तत्पदों में संकेतित सम्बन्ध से प्रतीत होने वाले वाच्यार्थ का ग्रहण करने से व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न कहा जा सकता है।

इन आलंकारिकों के व्यञ्जनास्वरूप पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि इन्होंने व्यञ्जना का लक्षण प्रदर्शित करते समय इसे अन्य वृत्तियों से भिन्न कहा है। यह लक्षण का दोष माना गया है। एक तो व्यञ्जना-लक्षण में शक्ति इत्यादि वृत्तियों के स्वरूप का सन्निवेश हो जाने से इसका स्वरूप गुरुभूत हो जाता है। दूसरे व्यङ्ग्यार्थ-निश्चय के लिये शक्ति इत्यादि से अजन्यता का भी ग्रहण करना होगा। इस प्रकार के लक्षण से लक्षणीय विषय का अनुगमन भी नहीं हो सकेगा। व्यञ्जनावादी आचार्यों के लक्षण को इन उक्तियों के आधार पर सदोष ही माना जाना चाहिये। व्यञ्जना की व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्ध विशेषरूपता ही समीचीन प्रतीत होती है।

शाब्दी एवं आर्थी भेद से इसके दो भेद किये जाते हैं। शाब्दी व्यञ्जना भी लक्षणा एवं अभिधामूला भेद से दो प्रकार की होती है। इनकी चर्चा पिछले अध्यायों में प्रस्तुत की जा चुकी है।

ध्वनि एवं व्यंजना-विरोध

देखा जाता है कि ध्वनिवादियों के इस ध्वनिसिद्धान्त एवं व्यञ्जना के विरोधी समीक्षकों की भी संख्या कम नहीं है। आनन्दवर्धन के समकालिक मनोरथ

---

१. व्यञ्जना च शक्तिलक्षणाद्यजन्यप्रतीतिजनकः पदादिगतो व्यापारः।

—का० प्र०, द्वि० उ०, बालबोधिनी टीकाभाग।

२. विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यतेऽपरः।

सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥

—सा० द०, द्वि० प०, सू० का० १९।

नामक कवि ने ध्वनिसिद्धान्त की असारता बतायी है।[1] इस सम्बन्ध में डॉ० के० कृष्णमूर्ति का कथन दृष्टव्य है।[2] ध्वन्यालोक की "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति" कारिका में उद्धृत अभाववादी, भाक्तवादी एवं अशक्यवक्तव्यत्ववादियों ने ध्वनि-सिद्धान्त के विरोध में अपनी-अपनी आवाजें उठायी थी। किन्तु इन विरोधियों के विरोध प्रबल एवं प्रामाणिक तर्कों के अभाव में ध्वनिसिद्धान्त को धूमिल बनाने में समर्थ न हो सके। वास्तविक स्थिति यह है कि ये विरोधी अधिकांश रूप में ध्वनिकार के स्वयं के उत्प्रेक्षित थे। काव्यशास्त्र में नितान्त नूतन ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना करते समय ध्वनिकार को स्वयं इसकी चिन्ता थी कि कहीं लोग इस सिद्धान्त की खिल्ली न उड़ायें। इस भय से उन्होंने इसकी स्थापना के पूर्व ही ध्वनिविरोधी कतिपय मतों की उपस्थापना की होगी। यही कारण है कि ध्वनिकार की प्रथम कारिका में निर्दिष्ट अधिकांश ध्वनिविरोधिनी बातें स्वयं उन्हीं द्वारा पूर्वपक्ष में उपस्थापित जान पड़ती हैं।

ध्वनिसिद्धान्त का वास्तविक विरोध उस समय प्रारम्भ हुआ जब कि आनन्दवर्द्धन ने वैयाकरणों की स्फोट-कल्पना से ध्वनि को प्रेरित बताते हुए साहित्यशास्त्र में व्यञ्जकत्व-व्यापार की स्थापना पर बल दिया। इस व्यञ्जना-व्यापार को वैयाकरणों की आंशिक सहमति अवश्य मिली किन्तु इतर शब्द-शास्त्रियों को व्यञ्जना-व्यापार अभिमत न था, फलतः इसके विरोध में मीमांसक एवं तार्किकों ने अपने पक्षों को प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया। ध्वनिवादियों

१. यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनः प्रह्लादि सालंकृति-
व्युत्पन्नैरचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुकृतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥
—ध्वन्या०, प्र० उ०, वृत्तिभाग में उद्धृत।

२. According to Manoratha, then the idea of Dhvani is nothing but nonsense born in the perverted minds of some ignoramuses. He is of opinion that whatever beauty there can be in a poem comes under one or another kind of the wellknown figures of speech and that it is idle to claim any new kind of poetic charm for pieces lacking in Alankaras.
—The Dhvanyaloka and its critics, Dr. K. Krisna, Page 232.

की चाटुकारिता के फलस्वरूप वैयाकरणों ने स्वसिद्धान्त-विरुद्ध भी ध्वनिसिद्धान्त की आलोचना स्थगित कर दी, किन्तु स्फोट के विरोधी प्रखर प्रतिभाशाली नैयायिक एवं मीमांसक सिद्धान्तानुयायी समालोचकों ने इसका विरोध अत्यन्त गम्भीरता के साथ करना प्रारम्भ कर दिया। इन आचार्यों ने काव्य में रमणीय-तत्त्वभूत अर्थ को तो मान्यता दी, किन्तु उसकी प्रतीति के लिये व्यञ्जना जैसे नवीन व्यापार की कल्पना को नितान्त निरर्थक एवं अनुपयोगी सिद्ध करने का प्रयास किया। यदि नैयायिक विचारधारा के पोषक आचार्यों ने काव्य में रमणीयार्थावगमन के लिये अनुमान प्रमाण की स्थापना पर बल दिया तो दूसरी तरफ मीमांसामतानुयायी तात्पर्यवृत्ति की पुन: स्थापना के विषय में तत्पर हो गये।

आनन्दवर्धन की यह मौलिक उद्भावना मीमांसको एवं तार्किकों को अरुचिकर ही नहीं, स्वसिद्धान्तविरुद्ध भी प्रतीत हुई। मीमांसक एवं नैयायिक व्यञ्जना के विरोधी तो थे ही, अत: जब इन्हें यह प्रतीत हुआ कि साहित्यिकों का ध्वनि-सिद्धान्त वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त से अनुप्राणित है तो इन्हें व्यञ्जनाव्यापार एवं ध्वनिसिद्धान्त को निर्मूल रूप में सिद्ध करने के लिये प्रेरित होना पड़ा। प्रतीत होता है कि यदि साहित्यशास्त्री ध्वनिसिद्धान्त को स्फोट के साथ सम्बद्ध न करते तो सम्भवत: विरोध की यह रूपरेखा प्रस्तुत न हो सकती। स्फोटसिद्धान्त से ध्वनि-सिद्धान्त को प्रेरित समझ कर ही तो वैयाकरणों ने इसके खण्डन में अपनी रुचि प्रदर्शित न की, अन्यथा स्फोट एवं ध्वनिसिद्धान्त के बीच महान् विभेद हैं। ध्वनिसिद्धान्त-प्रवर्तकों ने अपने सिद्धान्त के साथ वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त को इसी दृष्टि से एकीभूत रूप में बताने की चेष्टा की थी कि व्याकरणशास्त्रियों के विशेष प्रभाव के कारण ध्वनिसिद्धान्त का प्रचार-प्रसार अवरुद्ध हो ही नहीं सकता। ध्वनिवादी अपने इस चिन्तन को यथार्थरूपता प्रदान करने में तो सफल हो गये किन्तु दूसरी तरफ उन्हें मीमांसकों एवं नैयायिकों, जो स्फोट के विषय में खण्डनात्मक प्रवृत्ति वाले थे, का सामना करना पड़ा। इतना ही नहीं जो नैयायिक व्यंजनावृत्तिबोध्य व्यङ्ग्यार्थ का अवगमन किसी प्रमाण विशेष का आश्रय लिये बिना केवल मानस प्रत्यक्ष से मानते थे उन्हें भी व्यंजना के खण्डन के लिये उसे अनुमान प्रमाण का विषय बताना अपेक्षित हो गया। क्योंकि व्यंजनावृत्तिस्थानिक किसी प्रमाण का निरूपण उनके लिये आवश्यक था। मीमांसकों का इस विषय में पदार्थ वाक्यार्थ न्याय जागरूक ही

था, जिसके फलस्वरूप परवर्ती मीमांसक सम्प्रदाय के पोषक आचार्यों को साहित्यशास्त्र में व्यंजनास्थानीया तात्पर्यवृत्ति की परिष्कृत अवतारणा करनी पड़ी। इस सन्दर्भ में व्यंजना-विरोधी समीक्षकों की मान्यताओं की रूपरेखा का सामान्यतः निरूपण करना आवश्यक है।

महिमभट्ट

व्यंजनाविरोधी एवं नैयायिक सरणि के समर्थक आलोचकों में महिमभट्ट का प्रमुख स्थान है। महिमभट्ट का वैमत्य ध्वनिविरोधी आचार्यों से इसी अंश में है कि काव्य में रमणीयार्थ की प्रतिपत्ति सहृदय को व्यंजनावृत्ति से होती है; क्योंकि इसके लिये वह अनुमिति की कारणता सिद्ध करते हैं। आशय यह है कि विरोध उपायांश में ही है, उपेयांश में नहीं। प्रतीयमान की काव्य में प्रतीति होती है और उसी को काव्यशास्त्र का जीविततत्त्व कहा जा सकता है, इस अंश में तो महिमभट्ट का किसी भी प्रकार का वैमत्य नहीं लक्षित होता। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ व्यक्तिविवेक के प्रतिपाद्य विषय की ओर संकेत करते हुए इस तार्किक समालोचक ने ध्वनिसिद्धान्त को निर्मूल सिद्ध करने तथा उसका अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में करने की समुद्घोषणा की है[1] जिससे उनका अभिनिवेश व्यङ्ग्यार्थ की अनुमितिरूपता सिद्ध करना सुस्पष्ट हो जाता है।

व्यंजनावृत्ति के सम्बन्ध में महिमभट्ट ने तीक्ष्ण प्रहार करते हुए यह सिद्ध करने का पूर्ण प्रयास किया है कि शब्द में अभिधा से अतिरिक्त वृत्ति का होना सम्भव ही नहीं है। इस कथन से लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्तियों की भी सत्ता इनकी दृष्टि से सम्भव नहीं है। उनका आशय है कि शब्द का अभिधा के अतिरिक्त व्यंजकत्वरूप अपरव्यापार यदि सम्भव होता तब तो व्यंजकत्वव्यापार विशिष्ट व्यंजना की उपपत्ति हो पाती। व्यंजना के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा सम्बन्ध सम्भव नहीं है जो ध्वनिवादियों के व्यङ्ग्यरूप अर्थ का बोध करा सके। "नापि शब्दस्याभिधाव्यतिरेकेण व्यंजकत्वं व्यापारान्तरमुपपद्यते, येनार्थान्तरं प्रत्याययेद्, व्यक्तेरनुपपत्तेः सम्बन्धान्तरस्य चासिद्धेः" व्यक्तिविवेक प्रथम वि० कारिका ७३। क्योंकि शब्द अनेक शक्तियों का आश्रय हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में

---

१. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥
—व्यक्तिवि०, प्र० आ०, का० १

शब्द को अनेकार्थबोधक शक्ति का आश्रय बताना और तदनुसार व्यंजना की सिद्धि करना अनुपपन्न है। लोक में भी एक ही आश्रय में विद्यमान अनेक शक्तियाँ परस्पर निरपेक्षभाव से रहती हुई स्वतन्त्रसत्ताक होती है। अग्नि की दाहकता प्रकाशता इत्यादि शक्तियाँ इसी प्रकार की हैं। प्रकाशकता न तो दाहकता-सापेक्ष है और न तो दाहकता प्रकाशता-साक्षेप। दोनों शक्तियाँ परस्पर निरपेक्ष हैं और एक ही काल में अपने कार्य के अनुष्ठान में इनका स्वातन्त्र्य है। ध्वनिवादियों की व्यंजना शब्दवृत्ति अभिधा-सापेक्ष है। इसलिये व्यंजना को शब्दगत शक्तिविशेष मानना औचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता।[1] फलतः यह मानना होगा कि अभिधा को छोड़कर शेष वृत्तियाँ, चाहे वह लक्षणा हो अथवा व्यंजना, अर्थगत आश्रय में ही स्थित रह सकती है शब्दगत आश्रय में नहीं, और इस दशा में तो उसके व्यापार का अन्तर्भाव अनुमान में ही मानना युक्तिसंगत है।

अर्थ ज्ञानस्वरूप है, अतः उससे प्रतीत हुआ अर्थान्तर भी ज्ञानस्वरूप ही होगा, शब्दस्वरूप नहीं। अर्थान्तरज्ञान शाब्दी प्रमा के अन्तर्गत आ ही नहीं सकता, उसे शाब्दी प्रभा से भिन्न अनुमिति प्रमा के अन्तर्गत ही समाहित करना समीचीन है।

महिमभट्ट वाच्य एवं अनुमेयरूप द्विविध अर्थों की सत्ता मानते हुए वाच्यार्थ को अभिधावृत्ति से गृहीत तथा अन्य समस्त लक्ष्यार्थ, तात्पर्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ को अनुमान प्रमाण में अन्तर्भूत करते हुए इनकी अनुमेयता सिद्ध करते हैं।

व्यञ्जनावृत्ति के खण्डन से ही महिमभट्ट अपने को कृतकृत्य नहीं मानते। वह व्यञ्जनावृत्ति के स्वरूपभूत व्यङ्ग्यव्यंजकभाव पर भी तीक्ष्ण प्रहार करते हैं। इनका तर्क है कि व्यङ्ग्यव्यंजकभाव वहीं हो सकता है जहाँ अक्रम-प्रतीति होती हो। घट एवं प्रदीप की प्रतीति में किसी भी प्रकार का क्रम न होने से वहाँ तो व्यंग्य-व्यंजकभाव होता है किन्तु वाच्य एवं प्रतीयमान में सर्वत्र क्रम होने से वहाँ

---

१. यत्पुनरस्यानेकशक्तिसमाश्रयत्वात् व्यापारान्तरपरिकल्पनं तदर्थस्यैवोपपद्यते न शब्दस्य, तस्यानेकशक्तिसमाश्रयत्वासिद्धेः। तथाहि एकाश्रयाः शक्तयोऽन्योन्यानपेक्षाप्रवृत्तयोऽप्राकृतपौर्वापर्यनियमा युगपदेव कार्यकारिण्यो दृष्टाः यथा दाहकत्वप्रकाशकत्वादयोऽग्नेः।

—व्यक्ति वि०, प्र० वि०, वृत्तिभाग।

व्यंग्यव्यंजकभाव मानना ठीक नहीं है। इतना अवश्य है कि वाच्य एवं व्यंग्य का क्रम कहीं तो लक्षित होता है और कहीं पर नहीं। किन्तु उनमें क्रम तो सर्वत्र रहता ही है। अतः वाच्य एवं प्रतीयमान में गम्यगमकभाव सम्बन्ध की ही स्थिति है।

ध्वनिकार के सिद्धान्तो के खण्डन के प्रति महिमभट्ट इतने अधिक तत्पर हैं कि व्यक्तिविवेक के प्रारम्भ में ही ध्वनिकार को "प्रतीयमानं पुनरन्यवेव" में उल्लिखित ध्वनि-परिभाषा के खण्डन में कारिका के स्वरूप की भी कटु आलोचना प्रारम्भ कर देते हैं।

व्यङ्ग्यार्थ की अनुमानप्रमाणगम्यता प्रतिपादित करने में महिमभट्ट ने जिस पद्धति का सहारा लिया, उसने व्यञ्जना के साथ ही साथ अन्य वृत्तियों की सत्ता का भी निषेध कर दिया। यद्यपि यह जिस न्यायदर्शन की परम्परा के समर्थक हैं उसमें व्यंजना की मान्यता भले ही न हो किन्तु लक्षणा एवं अभिधा की वृत्ति-रूप में स्थिति तो मानी ही गयी है। महिमभट्ट का प्रतिज्ञा-वाक्य तो इनका मात्र व्यंजना-खण्डन के प्रति ही संरम्भ प्रकट करता है किन्तु इन्होंने व्यंजना-खण्डन में जिन युक्तियों का सहारा लिया वे युक्तियाँ लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्तियों को भी वृत्ति के घेरे से बहिर्भूत कर देती हैं। अनुमितिवादी सिद्धान्त को काव्यशास्त्र में अत्यधिक समादर देना "प्रत्यक्षेण परिकलितमप्यर्थमनुमाने बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः" तार्किकों की इस उक्ति का स्मरण हठात् करा देता है।

महिमभट्ट का यह अनुमितिवादी सिद्धान्त न्यायदर्शन की शैली पर आधारित होने के कारण भले ही सभी सहृदय काव्य-समीक्षकों के लिये मान्य न रहा हो किन्तु इसकी स्थापना के बाद ही ध्वनिसमर्थक आचार्यों को एक चुनौती का सामना करना पड़ा। वास्तव में व्यक्तिविवेक का विवेचन तर्कशास्त्र की उन गम्भीर युक्तियों से ओत-प्रोत है जिनके पूर्ण खण्डन में आचार्य मम्मट जैसे प्रतिभा-शाली समालोचक की भी लेखनी लड़खड़ा गई है। मम्मट ने काव्यानुमिति में प्रयुज्यमान हेतुओं को असद्हेतु सिद्ध करते हुए उन्हें हेत्वाभास से ग्रस्त बताने का प्रयास किया है।[1] किन्तु व्यंजकत्व-व्यापार से सम्बन्धित महिमभट्ट के तर्कों का इन्होंने स्पर्श तक नहीं किया है। यदि ध्वनिवादियों का व्यंजकत्व-व्यापार निर्मूल सिद्ध हो जाता है तो अनुमिति में हेत्वाभासरूप दोष की उद्भावनामात्र से तो दोनों पक्षों की दुर्बलता ही प्रतीत होगी। तब तो "यत्रोभयोः समो दोषः" इस

---

१. का० प्र०, प० उ०, वृत्तिभाग।

न्याय के अनुसार-व्यंजकत्व व्यापार एवं अनुमितिवाद दोनो की रमणीयतार्थ-प्रतीति के सन्दर्भ में अप्रयोजकता ही मानी जानी चाहिये।

ध्वनिसिद्धान्त का विरोध मीमांसक सम्प्रदायवादी समालोचकों द्वारा भी किया गया। इन समीक्षकों की सिद्धान्तगत मान्यताओं की पर्यालोचना अग्रिम प्रकरणों में प्रस्तुत की जायगी।

साहित्यशास्त्रीय ध्वनिसिद्धान्त का प्रेरणास्रोत व्याकरण कहा गया है। यद्यपि प्राचीन वैयाकरणों ने व्यंजनावृत्ति को मान्यता नहीं दी है, तथापि ध्वनिवादी आचार्यों का वैयाकरणों के प्रति इतना अधिक लगाव है कि ये ध्वनि-विरोधी सम्प्रदाय के समीक्षको के अन्तर्गत इनकी चर्चा भी नहीं करना चाहते। "परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यहारः इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते" ध्वन्यालोककार जैसे ध्वनिप्रवर्तक आचार्य की जब यह स्थिति है तो औरों की बात ही क्या? प्राचीन वैयाकरण मात्र अभिधाशक्ति के पोषक हैं। ये इसके अतिरिक्त किसी भी वृत्ति को नहीं स्वीकार करते। इनकी दृष्टि में यदि अभिधा से अतिरिक्त अन्य शक्तियं की सत्ता मानी जायगी तो शब्दबोधजनक पदार्थोपस्थिति के प्रति उन वृत्तियों के ज्ञान को भी कारणता के रूप में दर्शित करना होगा। इसी कार्यकारणभाव के गौरव की पर्यालोचना को दृष्टिगत करते हुए कौण्डभट्ट ने "लक्षणा नातिरिक्ता शक्तिः" कहकर लक्षणा का खण्डन किया है।[1] कहना न होगा कि जिस युक्ति से लक्षणा का निरसन हुआ है उसी युक्ति के बल पर व्यंजना का भी खण्डन स्वतः हो जाता है। अभिधा शक्ति के ही प्रसिद्धा एवं अप्रसिद्धा ये दो भेद इन प्राचीन वैयाकरणों ने माने हैं। अभिधा की प्रसिद्ध शक्ति वह शक्ति है जिससे सभी लोग अर्थ की प्रतीति करते हैं। साधारण लोकव्यवहार में इसी प्रसिद्धा शक्ति का ही प्रयोग होता है। अभिधा की अप्रसिद्धा शक्ति उसे कहा जाता है जिससे मात्र सहृदय लोग ही अर्थावबोध करते हैं। इसी अप्रसिद्धा अभिधा शक्ति से वैयाकरण लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ दोनों की प्रतीति करते हैं। यही कारण है कि प्राचीन वैयाकरणों को अभिधा के अतिरिक्त किसी भी वृत्ति की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं हुआ। वैयाकरणभूषणसार के शक्तिप्रकरण में लक्षणा के खण्डन की बात तो ग्रन्थकार ने सोची किन्तु व्यंजना का इनकी दृष्टि

१. वैयाकरणभूषणसार, शक्तिप्रकरण।

में कोई अस्तित्व ही नहीं था जिसके फलस्वरूप इसके खण्डन तक की प्रवृत्ति का उदय ग्रन्थकार के मन में न हो सका।

ध्वनिविरोधी आचार्यों की शृङ्खला में न्याय, मीमांसा एवं व्याकरणशास्त्र की सम्मत मान्यताओं के उल्लेख के साथ-साथ कतिपय ऐसे भी समीक्षकों की चर्चा करनी आवश्यक है जो किसी शास्त्रविशेष की विचारधाराओं से प्रभावित होकर ध्वनिविरोध के लिये नहीं उद्यत हुए हैं, अपितु ध्वनिविरोध के सम्बन्ध में इनका स्वतन्त्र चिन्तन प्रतीत होता है। अभिधा एवं लक्षणा को ही एकमात्र वृत्ति मानने वाले समालोचक इसी कोटि में आते है। ये व्यञ्जना और तात्पर्य का अन्तर्भाव या तो अभिधा में करते है, या फिर लक्षणा में। ऐसी कोटि के आचार्यों का उल्लेख ध्वन्यालोक एवं काव्यप्रकाश में किया गया है।

व्यञ्जनावृत्ति के समर्थक आचार्य

ध्वनिसिद्धान्त एवं व्यञ्जनावृत्ति के विरोध में एक ही साथ अनेक आलोचक प्रवृत्त हुए और उन्होंने इसकी असारता को समुद्घाटित किया। किन्तु दूसरी ओर इस नूतन सिद्धान्त को काव्यशास्त्र में पूर्णरूप से प्रतिष्ठापित करने के लिये भी अनेक ध्वनिवादी आचार्यों को लेखनी प्रसृत हुई। इन समर्थकों ने तत्कालीन समाज में व्याकरणशास्त्र की प्रतिष्ठा का अनुभव करते हुए ध्वनिसिद्धान्त को स्फोटसिद्धान्त से समन्वित बताया, जिसके फलस्वरूप वैयाकरण व्यंजना-समर्थक हो गये। इस परिवेश में ध्वनिवाद की स्थापना करते हुए काव्यशास्त्रियों ने व्याकरणशास्त्र के प्रतिभाशाली आचार्यों का अनायास की सहयोग प्राप्त कर लिया। ध्वनिसिद्धान्त की परम्परा को दृढ़मूल करने और उसे काव्यशास्त्र का जीवित तत्त्व सिद्ध करने में अभिनवगुप्त से लेकर पण्डितराजजगन्नाथ तक सभी समालोचकों ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक नामक अपनी कृति में काव्य में प्रतीयमान अंश की प्रधानता तथा व्यंजनावृत्ति एवं ध्वनि की स्थापना करके अपने पूर्ववर्ती सम्पूर्ण काव्यशास्त्रीय प्रस्थानों को धूमिल बना दिया। अर्थतत्त्व की मीमांसा करते हुए इन्होंने उसे वाच्य एवं प्रतीयमान, इन दो विधाओं में विभाजित किया। वाच्यार्थ के सम्बन्ध में इनके पूर्व के समीक्षकों ने पूर्ण ऊहापोहपूर्वक गम्भीर विवेचना प्रस्तुत कर दी थी। अतः पिष्टपेषण समझकर ध्वनिकार ने उसे अपने ग्रन्थ का विषय ही नहीं बनाया। दूसरा प्रतीयमानांश अस्पृष्ट था। काव्यतत्त्ववेत्ता परिशीलकों

की भावात्मक अनुभूति का विषय होने पर भी यह समालोचना के निकष पर आरोपित नहीं किया गया था। सहृदयहृदयसंवेद्य होता हुआ भी यह काव्यशास्त्रीय उपादानों में प्रधानरूप से प्रतिष्ठित नहीं हो सका था। क्योंकि इसे न तो कोई अभिधानविशेष प्राप्त हुआ था और न इसका किसी प्रकार स्पष्ट विश्लेषण ही हुआ था। परिणामतः आनन्दवर्धन इसी काव्यात्मतत्त्व को प्रतिष्ठापित करने में सर्वात्मना संलग्न हो गये। उन्होंने बताया कि प्रतीयमान वाच्यार्थ से भिन्न है तथा काव्यात्मा शब्द का व्यपदेश प्रतीयमान के लिये ही सम्भव है। काव्य की चमत्काराधायकता के प्रति हेतुता प्रतीयमान की ही है, वाच्यादि अर्थों की नहीं। अंगनाओं के सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्त लावण्य की भाँति प्रतीयमान भी वाच्यादि-व्यतिरिक्त पृथक् तत्त्व है।[1] यह काव्य का जीवातुभूत तत्त्व है। काव्य में जितने भी उपादान अलंकारशास्त्रियों द्वारा काव्यशास्त्र में वर्णित हुए थे, प्रतीयमान की सत्ता उन सभी उपादानों से भिन्न है। इस अभिनव तत्त्व को अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य, इन वृत्तियों द्वारा बोधगम्य नहीं बनाया जा सकता और न इसका समावेश अलंकारों में ही हो सकता है। अतएव इसे इन सभी प्रकारों से भिन्न माना जाना आवश्यक है।

ध्वनिकार ने काव्यतत्त्व की मीमांसा प्रतीयमान तत्त्व को आत्मतत्त्व मानकर प्रस्तुत की है, परिणामतः गुणों, अलंकारों, दोषों एवं रस के विषय में भी इनकी दृष्टि अलंकार-प्रस्थान से सर्वथा भिन्न सी है। ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना के साथ ही साथ काव्यशास्त्रीय समालोचना-क्षेत्र की दृष्टि में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। प्रतीयमान से विशिष्ट काव्य को ही उच्चकोटि की श्रेणी में परिगणित किया जाने लगा। अलंकार-सम्प्रदाय के समीक्षक काव्य में अलंकारों की प्रधानता स्वीकार करते थे, अतः उनकी समीक्षादृष्टि अलंकारों की सत्तामात्र पर निर्भर थी। किन्तु ध्वनिवादी आचार्य प्रतीयमान को ही काव्य में उपजीव्य मानने लगे। फलतः अलंकारों का स्थान काव्य में गौण हो गया।

अभिनवगुप्त

आनन्दवर्धन द्वारा प्रवर्तित ध्वनिसिद्धान्त को काव्यशास्त्र में व्यापक बनाने तथा विरोधी आचार्यों की शंकाओं को समाहित करके इस सिद्धान्त को दार्शनिक

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥

—ध्वन्या०, प्र० उ० का० ४

परिवेश में प्रतिष्ठापित करने जैसे महनीय कार्य का सम्पादन अभिनवगुप्त ने किया। नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती एवं ध्वन्यालोक की टीका लोचन में इस शैवसम्प्रदाय के अनुयायी दार्शनिक साहित्यशास्त्री की मान्यताएं मात्र ध्वनिसिद्धान्त का समर्थन ही नहीं करती है, अपितु इस सिद्धान्त के विरोध में प्रवृत्त इतरसम्प्रदायवादी समालोचकों की युक्तियों का समाधान करती हुई इसे काव्यात्मा का स्वरूप प्रदान करती हैं। इसे ध्वनिसिद्धान्त का सौभाग्य ही समझा जायगा कि अभिनवगुप्त जैसे परमदार्शनिक ने भी इस सिद्धान्त के प्रवर्तन एवं इसके प्रचार-प्रसार में विशेष योगदान दिया है। यद्यपि अभिनव का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य टीकाग्रन्थों में ही वर्णित उपलब्ध होता है तथापि इनकी टीकाएं काव्य-शास्त्र में मौलिक ग्रन्थों की अपेक्षा अत्यधिक महत्व रखती हैं। एकमात्र अभि-नवगुप्त ही ऐसे आचार्य हैं जिनकी टीकाओं से काव्य की आत्मारस के सम्बन्ध में उत्पत्तिवाद से लेकर अभिव्यक्तिवाद तक की सारी मान्यताओं की एक उपलब्धि सम्भव हो पाती है, अन्यथा मूल ग्रन्थों के कालकवलित हो जाने के परिणामस्वरूप रसप्रक्रिया की विभिन्न मान्यताओं की चर्चा काव्यशास्त्र में निरूपित नहीं हो सकती थी।

अभिनवगुप्त स्वभाव से ही दार्शनिक चिन्तन धाराओं से समभिप्लुत हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि इनकी मान्यताओं को दर्शन का बाना मिला हो। रस-प्रक्रिया का विमर्श इन्होंने इसी परिवेश में किया है। यह यथार्थ ही है कि यदि यह दार्शनिक न होते तो विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों की मान्यताओं से संवलित रसप्रक्रिया का यथार्थ प्रस्तुतीकरण सम्भव न हो पाता।

काव्य के सभी तत्वों को ध्वनि की परिधि में अन्तर्भूत करके उसे सार्वभौम सत्ता की भाँति व्यापक बना देना अभिनव के ही चमत्कार की बात हो सकती है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन द्वारा काव्यशास्त्र में जिस ध्वनि शब्द का प्रयोग मात्र काव्यात्मा के लिये किया गया था अभिनवगुप्त ने उसे पाँच अर्थों में वर्णित किया। इन अर्थों की रूपरेखा प्रस्तुत की जा चुकी है। ध्वनि को आत्मा का पर्यायवाची मानना और उसकी सार्वभौम सत्ता को सिद्ध करना इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि अभिनव इसे अन्य दर्शनों में प्रतिपादित आत्मा की स्थिति के तुल्यरूप बनाना चाहते हैं। ऐसी विचारधारा कोरे साहित्यशास्त्री की नहीं हो सकती। यह मन्तव्य भी इनकी दार्शनिक मान्यताओं की काव्यशास्त्रजगत में उद्भावना विषयक स्थिति को प्रकट करता है।

परवर्ती सभी ध्वनिवादी आचार्य अभिनव के ही पथ पर अग्रसर होते हैं। काव्यशास्त्र के सबसे प्रौढ़ एवं प्रतिभाशाली समीक्षक पण्डितराजजगन्नाथ भी इनकी मान्यताओं के प्रति अपनी आस्था अभिव्यक्त करते हैं। मम्मट का काव्यप्रकाश तो एक मात्र इन्हीं के सिद्धान्तों पर आधारित प्रतीत होता है। अभिनवगुप्त की यह स्थिति इन्हें आचार्यत्व के पद पर प्रतिष्ठापित करती है।

मम्मट

जिस ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना आनन्दवर्धन ने की थी उसे दार्शनिक ढांचे में परिवर्तित अभिनवगुप्त ने ही किया। किन्तु यदि इसे मम्मट जैसा तत्त्वसंग्रही समीक्षक न मिलता तो सम्भवतः इसका इतना प्रचार-प्रसार सम्भव न हो पाता। आचार्य मम्मट ने अपनी प्रसिद्ध रचना काव्यप्रकाश में मात्र ध्वनिसिद्धान्त का समर्थन ही नहीं प्रस्तुत किया, अपितु ध्वनिसिद्धान्त को केन्द्रबिन्दु बनाकर सम्पूर्ण काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की भी इसी परिवेश में विस्तृत समालोचना करते हुए इसकी वैज्ञानिकता पर पूरा बल दिया। इनकी गम्भीर एवं सानासिक शैली ने विद्वत्समाज में काव्यप्रकाश को प्रसिद्धि प्राप्त करा दी। मम्मट की उपस्थापन-शैली अत्यन्त सुरुचिपूर्ण है। काव्यलक्षण के प्रसंग में उदाहृत एक ही सूत्र सम्पूर्ण ग्रन्थ के विषय-निरुपण एवं प्रकरणसंगति के लिये मूलभूत सूत्र बन गया है। नाट्यशास्त्रीय पारिभाषिक तत्त्वों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र के सम्पूर्ण पक्षों की विस्तृत विवेचना के साथ व्यञ्जनावृत्ति को शब्दशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करके इन्होंने केवल ध्वनिसिद्धान्त को स्थिर करने का ही प्रयास नहीं किया है, अपितु इसे सर्वांगसम्पन्न बना दिया है। यही कारण है कि इन्हें वाग्देवतावतार के साथ ही साथ ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है।

मम्मट ने अपने प्रतिपाद्य को सर्वग्राह्य बनाने के लिये अपने पूर्ववर्ती साहित्य-समीक्षकों के मतों को आदर के साथ गृहीत किया है। अपनी इसी विशेषता के कारण यह साहित्यशास्त्र में विशेष आदर के साथ उल्लिखित किये जाते हैं। केवल अलंकारशास्त्रियों के मतों का ही समाहार काव्यप्रकाश में नहीं मिलता, अपितु प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने अपनी कृति में सम्पूर्ण दर्शनों का समन्वय भी कर रखा है। ध्वनिसिद्धान्त के समर्थक होने के कारण वैयाकरणों का आधमर्ण्य यह पूर्णरूप से स्वीकार करते ही हैं, साथ ही साथ अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिये उन दार्शनिकों के मतों का भी उल्लेख करते हैं जिनके साथ साहित्यशास्त्रियों,

विशेषकर ध्वनिवादी आचार्यों, का सहज मतभेद रहा है।[1] इनकी इस प्रवृत्ति से यह ज्ञात हो जाता है कि यह समन्वयात्मक भावना के पोषक आचार्य हैं।

ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्तन का श्रेय आनन्दवर्धन को है, किन्तु इसे एक सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका मम्मट ने ही निभाई है। ध्वनिसिद्धान्त को यदि मम्मट जैसा प्रतिभाशाली समीक्षक न मिला होता तो महिमभट्ट, भट्टनायक एवं तात्पर्यवादी आचार्यों के प्रखर तर्कों के समक्ष इसका प्रचार-प्रसार तो दूर रहा इसकी सत्ता भी खतरे में पड़ जाती। सम्पूर्ण शब्दशक्तियों पर सर्वप्रथम सुनियोजित ढंग से विचार इन्होंने ही किया है। रसस्वरूप की मीमांसा में अभिनवगुप्त के मत-निरूपण के पूर्व अन्य प्रचलित रसवादियों के मतों को भी मम्मट ने सुव्यवस्थित क्रम से प्रस्तुत किया है।

कविराज विश्वनाथ

आचार्य मम्मट के परवर्ती प्रमुख ध्वनिसमर्थक समीक्षकों में कविराज विश्वनाथ का नाम उल्लेखनीय है। काव्य एवं नाटचसम्बन्धी सम्पूर्ण विषयों का एकत्र वर्णन होने से इनकी कृति साहित्यदर्पण पर्याप्त उपयोगी रचना मानी जाती है। विश्वनाथ ने भी काव्यप्रकाश की अनुकृति पर ही अपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य की योजना बनायी है। इतना अवश्य है कि काव्यप्रकाश की दुरुह शैली का परित्याग करके इन्होंने अपनी शैली को अत्यन्त सरल एवं सुबोध बनाया है। इसका परिणाम यह हुआ कि काव्यप्रकाश की अनेक विशेषताओं को मानते हुए भी लोग साहित्यदर्पण की ओर उन्मुख होते गये। इसकी इस विशेषता के फलस्वरूप साहित्यसमाज में इस ग्रन्थ का विशेष प्रचार-प्रसार हुआ। फिर भी दर्पण तो दर्पण ही है, वह दूसरे के प्रकाश को ही प्रतिबिम्बित कर सकता है, उसके पास अपना निजी प्रकाश तो रहता ही नहीं। इतना होने पर भी साहित्यदर्पण के समीक्षात्मक दृष्टिकोण में श्लाघनीय परिवर्तन तो अवश्य ही हुआ है। तात्पर्यवृत्ति की उपस्थापना, पूर्वपक्ष में ही सही, स्फीत प्रतीत होती है।

पण्डितराजजगन्नाथ

ध्वनिसिद्धान्त के अन्तिम एवं प्रौढ़ समर्थक पण्डितराजजगन्नाथ हैं। पण्डितराज ऐसे समालोचक हैं जो अपने मत को सुस्पष्ट करने में मात्र भावुकता एवं अन्धश्रद्धा पर ही विश्वास नहीं करते। यद्यपि इन्होंने अपने प्रतिपाद्य को ध्वनि-

1. काव्यप्रकाशः, द्वि० उ०, सू० २९।

सिद्धान्त के परिवेश में निरूपित किया है किन्तु स्थान-स्थान पर इनकी मौलिक उद्भावनाएँ भी प्राप्त होती हैं। रसगंगाधर में ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिवादी आचार्यों के तर्कों की नूतन पर्यालोचना नहीं की गयी, बल्कि ध्वनिसिद्धान्त के ही आचार्यों के मतों को परिष्कृत करके उन्हें नव्यन्याय शैली का रूप प्रदान किया गया। इस सन्दर्भ में पण्डितराज जगन्नाथ ने शुद्ध समालोचक के उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है। विशेष आश्चर्य का विषय तो यह है कि शब्दशक्तियों पर विचार करते समय यह नैयायिक मत का ही पोषण करते हैं। फलतः न्यायदर्शनानुमोदित अभिधा एवं लक्षणा के सम्बन्ध में तो इन्होंने लक्षण एवं उनके पदकृत्यों का प्रस्तुतीकरण किया है, किन्तु व्यञ्जना जो कि ध्वनि-सिद्धान्त का सर्वस्वभूत है, का स्पर्श तक नहीं किया है। इनकी यह दृष्टि इन्हें न्यायमतानुयायी भी सिद्ध करती है। वैसे भी व्यञ्जना के प्रति इनके मन में विशेष आदरभाव नहीं दिखाई पड़ता। रस-सिद्धान्त के प्रसंग में मम्मट के काव्यप्रकाश की कारिका "व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः" की व्याख्या करते समय यह स्थायीभाव एवं विभावादिक का परस्पर व्यंग्यव्यंजकभाव नहीं मानते, अपितु उक्त कारिका के 'व्यक्तः' पद का 'व्यक्तो व्यक्तिविषयो कृतः। व्यक्तिश्च भग्नावरणाचित्' अर्थात्—'अनावृतचैतन्य का विषय बना हुआ' अर्थ करते हैं।[1] पण्डितराज के इस प्रतिपादन से यह विदित होता है कि ध्वनि-सिद्धान्त के समर्थक आचार्य भी व्यंजना को रसावबोध में सक्षमवृत्ति नहीं मानते। यही कारण है कि ये ध्वनिसिद्धान्त-समर्थक आचार्य होते हुए भी व्यंजना-सिद्धि में विशेष अभिरुचि नहीं रखते हैं।

नागेशभट्ट

इन अलंकारशास्त्री आचार्यों के अतिरिक्त व्यञ्जना के समर्थन में नव्य-वैयाकरणों का योगदान भी उल्लेखनीय है। नागेशभट्ट ने वृत्ति-विभाग के सन्दर्भ में "सा च वृत्तिस्त्रिधा शक्तिर्लक्षणा व्यंजना चेति"[2] कह कर वृत्तियों में व्यंजना का भी परिगणन किया है। निपातों की द्योतकता एवं स्फोट की व्यंग्यता का सिद्धान्त, जिसके बारे में भर्तृहरि की भी स्वीकृति है, को प्रमाणरूप में उदाहृत किया है।[3]

---

१. रसगंगाधर—रसनिरूपण।

२. परमलघुमञ्जूषा शक्ति-प्रकरण।

३. अतएव निपातानां द्योतकत्वं
स्फोटस्य व्यंग्यता च हर्यादिभिरुक्ता।
—परमलघुमञ्जूषा व्यंजनानिरूपण।

इस प्रकार व्यंजना नागेशभट्ट द्वारा भी समर्थित हुई है। नागेशभट्ट के परवर्ती सभी वैयाकरणों ने व्यंजना की वृत्तिता मानी है।

व्यञ्जना का प्रचार-प्रसार

आनन्दवर्धन ने काव्य में जिस आह्लादक अथवा रमणीय तत्त्व को ध्वनि संज्ञा दी थी परवर्ती सभी काव्यालोचकों ने आँख मूंद कर इसे स्वीकार कर लिया। इस अति नूतन अभिधान तथा व्यंजना व्यापार के लिये आनन्दवर्धन ने वैयाकरणों का आश्रय खोज लिया और घोषणा कर दी कि यदि व्यंजना एवं ध्वनि शब्द के सम्बन्ध में किसी को सन्देह हो तो उसे अपनी जिज्ञासा का निराकरण वैयाकरणों से कर लेना चाहिये क्योंकि "प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।"[1] व्याकरणशास्त्र का सहारा मिलते ही ध्वनि एवं व्यंजना का पूरी साहित्यालोचना में एकच्छत्र साम्राज्य सा स्थापित हो गया। परिणाम यह हुआ कि रमणीयता के बोधन के लिये प्रयुक्त होने वाले अन्य सभी माध्यमों की ही उपेक्षा नहीं हुई, अपितु सम्पूर्ण सौन्दर्य तत्त्व के प्रतिपादक अलंकार प्रस्थान भी काव्यसमीक्षा की दृष्टि से छूटते गये।

ध्वनि को काव्यात्मा कहकर ध्वनिकार ने आत्मतत्त्व को सर्वोच्च सत्ता के रूप में मानने वाले भारतीय जनमानस को आवर्जित करने में सफलता प्राप्त कर ली। फलस्वरूप ध्वनिचिन्तन आत्मचिन्तन की भांति श्लाघनीय माना जाने लगा।

व्यञ्जना की लोकप्रियता

किसी भी प्रस्थान को लोकप्रिय एवं उपादेय बनाने में उसके समर्थकों की सच्ची लगन एवं निष्ठा भी पर्याप्त कारण होती है। एक ओर ध्वनिवादियों ने ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के बाद काव्य के सभी तत्त्वों को ध्वनि के परिवेश में स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। अलंकार, गुण, दोष इत्यादि समूचे तत्त्वों को ध्वनिसिद्धान्त की भित्ति पर आधारित कर व्यंजनावादी आचार्यों ने समीक्षा प्रस्तुत की। दूसरी ओर इसके विपरीत ध्वनि-विरोधियों का दृष्टिकोण एकांगी बना रहा। वे ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन में तो प्रवृत्त हुए किन्तु काव्य के सम्पूर्ण तत्त्वों की व्याख्या अपने परिवेश में नहीं कर सके। इस विषय में ध्वनिवादियों को यह भी सौभाग्य प्राप्त हुआ कि उनके समर्थक प्रायः सभी परवर्ती प्रसिद्ध समालोचक हुए।

---

१. ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, वृत्तिभाग।

अखण्डवाक्यस्फोट एवं प्रतिभा वाक्यार्थ मानने वाले वैयाकरणों ने स्वसिद्धान्त विरुद्ध भी व्यंजनाव्यापार को अपने ग्रन्थों में निरूपित किया। "इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरली करोति" ?[१]

उपसंहार

ध्वनिसिद्धान्त के प्रचार-प्रसार में इसके विरोधियों में सामंजस्य का अभाव भी कारण है। यद्यपि जिस प्रकार ध्वनिसमर्थन में प्रतिभाशाली साहित्यशास्त्री प्रवृत्त हुए थे उसी प्रकार ध्वनिविरोध में भी, किन्तु ध्वनिविरोधी आचार्यों में परस्पर ऐकमत्य का अभाव था। किसी ने यदि ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान में बताया तो किसी ने काव्यसौन्दर्य को वक्रोक्ति में अन्तर्भूत करने का प्रयास किया। परिणाम यह हुआ कि ध्वनि एवं व्यंजना का एक ओर तो प्रसार-प्रचार बढ़ता गया, और दूसरी ओर इसका विरोध दुर्बल होता हुआ घटता गया।

---

२९. नैषधीय चरित ३।११६।

पंचम अध्याय

तात्पर्य एवं व्यंजनाशक्तियों के उद्भवों का पौर्वापर्य

काव्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के साथ ही जिस प्रकार इसके समर्थकों की संख्या में अभिवृद्धि हुई उसी प्रकार प्रबल विरोधी भी अपना स्वर मुखरित करने लगे। काव्य में रमणीयार्थ की सत्ता के सम्बन्ध में किसी भी समीक्षक ने अपना वैमत्य नहीं प्रकट किया किन्तु ज्योंही इसकी प्रतीति के लिये व्यंजनाव्यापार की आवश्यकता पर बल दिया गया, विरोधी विचारधाराएं सामने आने लगीं।

व्यंजनाविरोध के मुख्यतः दो कारण हैं, प्रथम तो यह कि जिस स्फोट-सिद्धान्त के आधार पर व्यंजना का निरूपण किया गया, वह सर्वमान्य नहीं है। वैयाकरण ही स्फोटसिद्धान्त के समर्थक हैं। नैयायिकों एवं मीमांसकों के स्वसिद्धान्त से स्फोटवाद का मूलतः विरोध है। इस स्थिति में मीमांसा एवं न्यायमतानुयायी काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में व्यंजना की उपयोगिता मान्य नहीं हो सकती। व्यंजनाविरोध में दूसरा कारण यह था कि मीमांसाशास्त्र में व्यंजना-आविष्कार के काफी पूर्व तात्पर्यवृत्ति की स्थापना की जा चुकी थी। प्राचीन एवं रमणीयार्थ बोध में सक्षम तात्पर्यवृत्ति के स्थान पर व्यजना की स्वीकृति के सम्बन्ध में काव्यसमीक्षक अपनी सहमति कैसे प्रदान करते ?

शबरस्वामी के अनुसार तात्पर्यवृत्ति

मीमांसादर्शन के भाष्यकार शबरस्वामी जिनका काल ईसा के पश्चात् दूसरी सदी माना जाता है, ने तात्पर्य की वाक्यार्थ-बोध के लिये उपयोगिता मानी है। वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थबोधन में ही अभिधा-व्यापार परिसमाप्त हो जाता है अतः वाक्यार्थ-बोध के लिये प्रमाणान्तर की कल्पना करनी होगी। इस पूर्वपक्ष का निरसन करते हुए सिद्धान्ततः इन्होंने यह माना है कि तात्पर्य का पर्यवसान पदार्थज्ञान में ही नहीं होता अपितु वाक्यार्थ-प्रतीत के अनन्तर ही तात्पर्य का विराम

होता है।[१] शबरस्वामी निश्चय ही इस सन्दर्भ में भट्टलोल्लट के दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापार एवं तात्पर्यवादियों के यावत्कार्यप्रसारी तात्पर्यवृत्ति का बीजवपन करते हैं।

कुमारिलभट्ट के अनुसार तात्पर्यशक्ति

छठीं अथवा सातवीं सदी के प्रौढ़ मीमांसक आचार्य कुमारिलभट्ट तात्पर्यवृत्ति की ओर संकेतमात्र ही नहीं करते, अपितु इसके स्वरूप की पूर्ण मीमांसा भी प्रस्तुत करते हैं। वक्ता प्रयोजनरहित वाक्य का उच्चारण नहीं करता[२]। वाक्य-प्रयोग का मुख्य उद्देश्य वक्तृतात्पर्य का प्रतिपादन है। अभिधावृत्ति पदार्थों की प्रतीति कराकर तात्पर्य-महिमा से वाक्यार्थ की भी प्रतिपादिका होती है। वक्ता का तात्पर्य पदार्थ-बोध में ही नहीं परिसमाप्त होता उसका तात्पर्य विषयीभूत वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ रूप तात्पर्यार्थ का बोधन कराती हुई अभिधा निवृत्तिव्यापार मानी जायेगी[३]। कुमारिलभट्ट ने जिस तात्पर्य का निरूपण किया है, इसी को धनिक-धनंजय ने काव्यशास्त्र में व्यंजनास्थानीया तात्पर्यवृत्ति के रूप में मान्यता प्रदान की है।

तात्पर्यशक्ति को कुमारिलभट्ट ने वाक्यार्थ-बोध के लिये अतीव उपयोगी माना है। बोद्धा की बुद्धि वाक्यार्थ-ज्ञान से ही फलवती मानी जाती है[४]।

वक्त्रभीष्ट कार्यप्रत्यायन तक सक्षम जिस तात्पर्यवृत्ति की सिद्धि तात्पर्यवादी आचार्यों ने की है, उसका स्वरूप कुमारिलभट्ट की श्लोकवार्तिक एवं तन्त्रालोक इन दोनों कृतियों से स्पष्ट हो जाता है।

---

१. पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि। अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति।

—शाबर भाष्य।

२. नहि प्रयोजनापेतं वाक्यमुच्चार्यते क्वचित्।
प्रयोजनक्षमं नापि पदमाख्यातवर्जितम्॥

—श्लो० वा०, वा० ३४६।

३. श्लो० वा०, अधि० ७, श्लो० २२९।

४. पदात्प्रभृति या चैषा प्रज्ञाज्ञातुर्विजृम्भते।
पुष्पिता सा पदार्थेषु वाक्यार्थेषु फलिष्यति॥

—तन्त्रवार्तिक, अ०।पा०, २, सू० ३०।

पार्थसारथिमिश्र के अनुसार तात्पर्यशक्ति

दशम शतक के भाट्टमतानुयायी मीमांसक पार्थसारथिमिश्र भी तात्पर्यवृत्ति का समर्थन करते है। इनके अनुसार अभिधाशक्ति से प्रतीत पदार्थ ही वाक्यार्थ में निमित्त होते हैं[१]। जहाँ कहीं पदार्थ की वाक्यार्थ में लक्षणा की स्थिति का निरूपण है, वहाँ लक्षणा पद महाव्यापार द्वारा प्रतीति विषय अर्थ का ही बोधक है। इसकी सुस्पष्ट व्याख्या नागेशभट्ट ने की है[२]।

तात्पर्य के कारण ही अभिधाव्यापार की सत्ता वाक्यार्थबोधपर्यन्त मानी जाती है। यदि तात्पर्य की कारणता न होती तो अभिधा का पर्यवसान पदार्थज्ञान में ही माना जाता। तात्पर्यविषयीभूत वाक्यार्थ-बोध तक अभिधा शक्ति महातात्पर्य के बल पर ही प्रसारित होती है[३]।

खण्डदेव के अनुसार तात्पर्यशक्ति

सत्रहवीं सदी के मीमांसक आचार्य खण्डदेव भी तात्पर्यवृत्ति के समर्थक हैं। इन्होंने इसकी व्याख्या भाट्टमत के अनुसार ही प्रस्तुत की है।[४] इनकी कृति मीमांसाकौस्तुभ में भी इसका स्पष्ट निरूपण उपलब्ध होता है।

महाभाष्य के अनुसार तात्पर्यस्वरूप

इन मीमांसक आचार्यों के अतिरिक्त महाभाष्यकार पतंजलि जिनका काल ई० पू० द्वितीय शती का मध्यभाग माना जाता है, वक्त्रभिप्रायबोधिका तात्पर्यवृत्ति

---

१. पदार्थानां हि वाक्यार्थे स्पष्टोक्ता निमित्तता।

—न्या० र० मा०, वा० नि०, का० ३३।

२. सर्वत्रैव हि वाक्यार्थो लक्ष्य एवेति च स्थितिः। इति पाठे लक्ष्यः इत्यस्य प्रतीतिविषय इत्यर्थकस्य अस्ति इतिशेषः॥

—वै० सि० ल० मं०, स्फो० नि०।

३. यद्यप्यभिधाव्यापारः पदार्थेष्वेव पर्यवासितस्तथापि तात्पर्य-
व्यापृतेरपर्यवसिताया वाक्यार्थपर्यन्तत्वात्तात्पर्ये शब्दप्रामाण्यात्।
सिद्धयति शब्दे प्रमेयतया वाक्यार्थस्य शब्दत्वम्।

—श्लोक वा०, न्यायरत्नाकरटीका पृ० सं० ६४।

४. तात्पर्यं च शब्दगत एव धर्मविशेषः।

—भाट्टदीपिका, १। १। ६ का वृत्तिभाग।

की व्याख्या स्पष्ट रूप से करते हैं। तात्पर्यवादियों के मत का पोषण इनकी इस व्याख्या से सम्भव हो जाता है।

ग्यारहवीं सदी के उद्भट नैयायिक जयन्तभट्ट भी तात्पर्यवृत्ति का निरूपण प्रस्तुत करते हैं। इनकी कृति न्यायमंजरी में तात्पर्यवृत्तियों की पुष्टि के लिये श्लोकवार्तिक एवं तन्त्रालोक से कारिकाएँ उद्धृत की गयी हैं।

व्यंजना का आविष्कारकाल

दूसरी ओर व्यंजना की प्राचीनता के सम्बन्ध में विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि इसका सर्वप्रथम आविष्कार ध्वन्यालोक में ही हुआ। ईसा की नवम शती जिसे आनन्दवर्धन का काल माना जाता है, व्यंजना के नूतन अवतरण का भी समय माना जा सकता है। इसके पूर्व के काव्यशास्त्रियों ने काव्यशास्त्र में रमणीयार्थबोध के लिए स्पष्ट शब्दों में व्यंजनावृत्ति का उल्लेख नहीं किया है।

ध्वनिवादी ध्वनि-सिद्धान्त एवं व्यंजना-व्यापार का प्रेरणास्रोत व्याकरणशास्त्र को मानते हैं। वैयाकरण स्फोट-सिद्धान्त में जिस ध्वनि का उल्लेख करते हैं, वह मात्र अनित्य शब्द तक सीमित है। दूसरे ध्वनि में व्यंजकत्व की स्थिति मानते हुए भी ये व्यंजना-व्यापार की तो कल्पना ही नहीं करते। नागेशभट्ट के पूर्ववर्ती किसी भी व्याकरण-शास्त्री ने व्यंजनावृत्ति का उल्लेख तक नहीं किया है।

महाभाष्यकार पतंजलि ने स्फोट का अभिव्यंजक ध्वनिशब्द माना है।[1] ध्वनिशब्द से इनका तात्पर्य वैखरी वाणी से है जिसमें अभिधा अथवा अर्थसमर्थकता का लेश भी नहीं होता। अभिधाशक्ति तो उस शब्द में मानी जाती है जिसे स्फोट शब्द से अभिहित किया जाता है। आशय यह है कि पतंजलि का ध्वनिशब्द नितान्त बाह्य उपकरण है जिसमें शक्तिमत्ता की कल्पना भी नहीं की जाती है। इसके विपरीत ध्वनिवादियों की व्यंजना और इनका ध्वनिशब्द अभिधोत्तरवर्ती अर्थ में ही व्यवहृत होता है।

वैयाकरण व्यंग्यव्यंजकभाव मात्र शब्द में ही मानते हैं। ध्वनिशब्द व्यंजक एवं स्फोटात्मा शब्द व्यंग्य होता है किन्तु ध्वनिवादी व्यंग्य का प्रयोग शब्द के लिए न करके अर्थ के लिये ही करते हैं। इनके मत में शब्द की व्यंग्यता का प्रश्न ही नहीं उत्थित होता। इतने महान् अन्तर के रहते हुए भी ध्वनिवादी व्याकरणशास्त्र को अपना प्रेरणास्रोत मानने में संकोच का अनुभव नहीं करते।

---

१. अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते, म० भा०, पस्प०।

आनन्दवर्धन की व्यंजकता वहाँ से प्रारम्भ होती है जहाँ वैयाकरण स्फोटशब्द का व्यवहार करते हैं। व्याकरणशास्त्री जिस अनित्य वैखरी ध्वनि में व्यंजकता का व्यवहार करते हैं उसे ध्वनिवादी व्यंजक नहीं मानते। इस दृष्टि से तो व्यंजनावादियों और वैयाकरणों की मान्यताओं में साम्य की बात तो दूर रही प्रत्युत परस्पर विरोध ही प्रतीत होता है।

वैयाकरणों एवं ध्वनिवादियों के सिद्धान्तों में व्यंजक एवं ध्वनि इन शब्दों के आधार पर भले ही साम्य प्रतीत होता हो, किन्तु इन दोनों सम्प्रदायों की मान्यताओं में पर्याप्त वैषम्य है। जिस शब्द में ध्वनिवादियों की व्यंजकता है उसी को वैयाकरण ध्वनि से व्यंग्य स्फोटात्मा शब्द कहते हैं।

व्यञ्जना व्याकरणसम्मत नहीं है

ध्वनिसिद्धान्त एवं व्यंजनावृत्ति को व्याकरण-शास्त्र-सम्मत नहीं माना जा सकता। नैयायिक एवं मीमांसक स्फोट-सिद्धान्त-विरोधी हैं, अतः उनके अनुसार व्यंजना को मान्यता मिल ही नहीं सकती। यही कारण है कि व्यंजना-विरोध में न्याय एवं मीमांसा-शास्त्रों के अनुयायी आचार्यों के स्वर मुखरित हुए। इस स्थिति में मीमांसा एवं न्यायशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में व्यंजना का उल्लेख होना असम्भव सा है।

व्यञ्जना की अपेक्षा तात्पर्यवृत्ति की प्राचीनता

व्यंजना की अपेक्षा तात्पर्य की प्राचीनता निःसन्दिग्ध है। जहाँ व्यंजना का आविर्भाव नवम शती में हुआ वहाँ तात्पर्यवृत्ति ईसा के पश्चात् दूसरी शती में अंकुरित एवं छठी सातवी शती में पूर्ण विकसित हो चुकी थी। जब तात्पर्यवृत्ति अस्तित्व में आ चुकी थी, व्यंजना का नामोनिशान भी न था। अतः यह निःसन्देह मान लिया जाना चाहिए कि काव्यशास्त्र के क्षेत्र में तात्पर्यवृत्ति अति प्राचीन वृत्ति है और बहुसम्मत शास्त्रीय वृत्ति है, जबकि व्यंजनावृत्ति अति अर्वाचीन वृत्ति है और मात्र अतिरंजना पर आधारित है। इतना ही नहीं बल्कि इसे उतना शास्त्र-संबल भी प्राप्त नहीं है जितना कि तात्पर्यवृत्ति को प्राप्त है।

षष्ठ अध्याय

व्यङ्ग्यार्थबबोध में तात्पर्यवृत्ति का असामर्थ्यवाद

व्यंग्यार्थबोध में तात्पर्यवृत्ति का असामर्थ्य

व्यंजनावादी सभी समीक्षक व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये एकमात्र व्यंजना व्यापार को समर्थ बताकर अन्य सभी वृत्तियों का इस विषय में असामर्थ्य सिद्ध करते हैं। अभिधा एवं लक्षणा के साथ तात्पर्यवृत्ति का भी कार्यक्षेत्र व्यंग्यार्थ के नीचे ही मानते हैं। इनकी मान्यता का सारांश यह है कि व्यंग्यार्थ अनवधिक है, व्यंजना को छोड़कर सभी वृत्तियाँ सीमित अर्थ की ही प्रतीति करा कर उपरत-व्यापार हो जाती हैं। व्यंग्यार्थ-प्रतीति तक जब इनका व्यापार ही न रहेगा, तो ये उसके बोधन में समर्थ ही कैसे होंगी ? जिस तात्पर्यवृत्ति की तात्पर्यवादी यावत्कार्य प्रसारिता मानते हैं और इसका पर्यवसान तात्पर्यरूप वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद सिद्ध करते हैं, उसकी व्यग्यार्थ-बोधन की अक्षमता का मूल्यांकन ध्वनिवादियों के तर्कों के परिप्रेक्ष्य में करना आवश्यक हो जाता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार

अभिनवगुप्त ने तात्पर्यवृत्ति की चर्चा अभिधा एवं लक्षणा के साथ ही की है। भ्रम धार्मिक इस कारिका का निषेधरूप व्यंग्य अर्थ जिसे अभिनवगुप्त व्यंजनावृत्ति का विषय मानते हैं, अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्तियों के क्षेत्र का विषय नहीं हो सका। उक्त कारिका के विधि एवं निषेध इन दोनों अर्थों की एक ही साथ अभिधावृत्ति से वाच्यता इसलिए नहीं मानी जा सकती कि ये दोनों अर्थ परस्पर-विरुद्ध हैं।[1] यदि यह कहा जाय कि अभिधा विधि अर्थ की प्रतीति करा कर पुनः निषेध अर्थ की प्रतीति करा सकेगी तो यह भी पक्ष "शब्दबुद्धिकर्मणांविरम्य

---

१. तत्र भावतदभावयोर्विरोधाद्द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता न क्रमेण विरम्य व्यापाराभावात्। —ध्वन्या०, प्र० उ०, लोचनभाग।

व्यापाराभावः'' इस न्याय के अनुसार संगत नहीं प्रतीत होता। अभिधावृत्ति द्वारा सामान्य रूप पदार्थों की उपस्थिति हो जाने पर पदार्थों के परस्पर-संसर्ग रूप वाक्यार्थ की बोधिका तात्पर्यवृत्ति अवतरित होती है। लोचनकार तात्पर्यवृत्ति को संसर्ग अंश की बोधिका मानते हैं। संसर्गांश के बोधन के अनन्तर ही यह वृत्ति क्षीण हो जाती है।[१]

''यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'' इस न्याय को मानने वाले अन्विताभिधानवादी मीमांसक शर के दीर्घ दीर्घतर व्यापार की भाँति एक ही अभिधाव्यापार से वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य इन अर्थों का बोध करते हैं। लोचनकार इस मत का खण्डन करते हुए अनेक विकल्प प्रस्तुत करते हैं। विषयभेद से व्यापार का भी भेद माना जाता है। वाच्य एवं व्यंग्य इन विषयों में परस्पर भिन्नता होने से अभिधा का एक ही दीर्घदीर्घतर व्यापार नहीं माना जा सकता। व्यंग्यार्थ एवं वाच्यार्थ सहकारियों के भेद से भिन्न होते हैं। व्यंग्यार्थ में सहकारी वक्तृवैशिष्टय इत्यादि होते हैं, जबकि वाच्यार्थ मात्र संकेतग्रह-सापेक्ष होता है। अतः विषयभेद से अभिधा के व्यापारों में भिन्नजातीयता मानना संगत प्रतीत होता है। भिन्न विषयों में सजातीय व्यापार प्रवृत्ति नहीं हो सकते। यदि सजातीय व्यापारों की भिन्न विषय में भी प्रवृत्त मानी जायेगी तो ''शब्दबुद्धिकर्मणां ...'' इत्यादि न्याय से विरोध उपस्थित हो जायेगा। उक्त न्याय से विरोध न हो इसलिए व्यापारों की विजातीयता माननी पड़ेगी। जब व्यापारों में विजातीयता की स्थिति स्वीकार कर ली गयी तब तो इसका व्यंजनावादियों से कोई विरोध ही न रहा। व्यंजनावादी भी तो व्यापारों को भिन्नजातीय कहकर उन्हें अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना इत्यादि विभिन्न संज्ञाओं से अभिहित करते हैं।[२]

अन्विताभिधानवादियों की ओर से दूसरा विकल्प प्रस्तुत करते हुए अभिनवगुप्त का कहना है कि यदि अन्विताभिधानवादियों का अभिधा के दीर्घदीर्घतर व्यापार का आशय चतुर्थकक्ष्यागामी भ्रमणनिषेध रूप अर्थ की साक्षात् प्रतिपत्ति से है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वाक्य से साक्षात्प्रतीति संकेतित अर्थ की ही होती है। निषेधरूप अर्थ में वाक्य का संकेतग्रह नहीं है। इसके निराकरण के लिये अन्विताभिधानवादी यह कहेंगे कि शक्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ में निमित्त-

१. ध्वन्या० लो०, प्र० उ०, लोचनभाग।

२. वही।

नैमित्तिक-भाव होने से संकेतग्रह की अपेक्षा मात्र निमित्तभूत शक्यार्थ की ही है, नैमित्तिक व्यंग्यार्थ को संकेत ग्रह की कोई अपेक्षा ही नहीं है। अतः संकेतग्रह के बिना भी उसकी वाक्य से झटिति प्रतीति सम्भव है। इसके समाधान में अभिनव-गुप्त अपनी शालीनता समाप्त कर देते हैं और कहते हैं कि निश्चय ही मीमांसक अपने प्रपौत्र को अपना पिता मान रहा है।[1]

पदार्थ एवं व्यंग्यार्थ में निमित्त-नैमित्तिक भाव उपपन्न करने के लिये अन्विताभिधानवादियों का दूसरा तर्क यह है कि पदार्थों में संकेतग्रह तो पूर्व रहता ही है। पदार्थों में संकेतग्रह से संस्कृत व्यंग्यार्थ का झटिति अवभास हो जाता है। इस दृष्टि से तो व्यंग्यार्थ के प्रति पदार्थों को निमित्त माना ही जा सकता है। लोचनकार इस तर्क को भी नहीं मानते। पहली बात तो यह है कि यदि व्यंग्यार्थ के प्रति पदार्थों को निमित्त माना जायेगा तो व्यंग्यार्थ-प्रतीति के पूर्व पदार्थों का ज्ञान होना चाहिये। अन्विताभिधानवादी अन्वित में संकेतग्रह मानते हैं अतः इनके अनुसार पदार्थ का तो ज्ञान ही नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि यदि अवापउद्वाप के द्वारा पदार्थ में सकेतग्रह माना जाय तो भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति के पूर्व पदार्थ का ज्ञान नियत रूप से मानने वाले मीमांसकों के मत में पदार्थ एवं व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य तो रहेगा ही। व्यंजनावादी भी वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ में क्रमिक प्रतीति मानते हैं। यह तो दूसरी बात है कि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि काव्य में इनके पौर्वापर्य का तत्काल आभास न होता हो, किन्तु इनमें क्रम तो रहता ही है। निरन्तर काव्यानुशीलन में प्रवृत्त सहृदयों की भावनाएँ व्यंग्यार्थ-मुखी होती हैं, अतः इन्हें क्रम के पौर्वापर्य का झटिति ज्ञान नहीं हो पाता।[2] इस प्रकार वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ में क्रमभेद स्थापित हो जाने पर अभिधा का एक ही दीर्घदीर्घतर व्यापार दोनों अर्थों की प्रतीति कराने में सक्षम नहीं माना जा

---

१. निमित्तेषु सङ्केतः, नैमित्तिकस्त्वसावर्थस्सङ्केतानपेक्ष एवेति चेत् पश्यत श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम्। यो ह्यसौ पर्यन्तभाग्यर्थः प्रथमं प्रतीतिपथमवतीर्णः, तस्य पश्चात्तनाः पदार्थावगमाः निमित्तभावं गच्छन्तीति नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम्। —ध्वन्या०, प्र० उ०, लोचनभाग।

२. तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम्।

बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां झटित्येवावभासते॥

—ध्वन्या लो०।

सकता। अर्थ-भेद से व्यापार-भेद की कल्पना ज्यायसी है। व्यापार-भेद स्वीकार करने पर व्यंजनावादियों से किसी प्रकार के विरोध का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता।

मम्मट के अनुसार

निमित्त-नैमित्तिक-भाव की चर्चा मम्मट ने भी की है[१]। मीमांसकों की ओर से पूर्वपक्ष करते हुए इन्होंने कहा है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति नैमित्तिकी है। इस नैमित्तिकी व्यंग्यार्थ की प्रतीति के प्रति शब्द को ही निमित्त मानना ठीक है। शब्द-श्रवण के अनन्तर ही तो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है अतः उपस्थित निमित्त को छोड़कर निमित्तान्तर की कल्पना गौरवपूर्ण ही नहीं अपितु निरर्थक भी है। नैमित्तिक एवं निमित्त का यह सम्बन्ध बिना शक्ति के नहीं हो सकता, अतः यह शक्ति अभिधा ही हो सकती है क्योंकि शब्द से अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति अभिधा ही है। नैमित्तिक व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा से ही हो जायेगी इसके लिये व्यंजना नामक एक पृथक् व्यापार मानना व्यर्थ है। इस पूर्व-पक्ष का निरसन करते हुए मम्मट ने दो विकल्प प्रस्तुत किये हैं। जिस शब्द को मीमांसक व्यंग्यार्थ के प्रति निमित्त मानते हैं उसमें दो प्रकार की ही निमित्ताएँ हो सकती हैं। एक तो कारक-रूप और दूसरी ज्ञापक-रूप। शब्द में कारक-रूप निमित्तता तो हो ही नहीं सकती। जिस प्रकार दण्ड घट को उत्पन्न करता है उस प्रकार शब्द अर्थ को उत्पन्न तो करता नहीं, अतः उसमें कारकता रूप निमित्तता का होना सम्भव नहीं है। ज्ञापकता-रूप निमित्तता को भी ज्ञात अंश में ही माना जा सकता है। यदि अज्ञात अर्थ का भी ज्ञापक शब्द माना जाय तो सदैव अर्थ-प्रतीति का अतिप्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इसलिये ज्ञात अंश का ही ज्ञापक शब्द हो सकेगा। शक्तिरूप संकेत सम्बन्ध से ज्ञात अर्थ का ही शब्द को ज्ञापक मानने पर व्यंग्यार्थ के असंकेतित होने से उसके प्रति शब्द की ज्ञापक-रूप निमित्तता नहीं बन सकेगी। व्यंग्यार्थ के प्रति शब्द में किसी भी प्रकार की निमित्तता सम्भव न होने से निमित्त-नैमित्तिक भाव की कल्पना ही निर्मूल सिद्ध हो जाती है।

भट्टलोल्लट का दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापार

मम्मट ने मीमांसकों के "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" न्याय एवं शरव्यापार की भाँति अभिधा के दीर्घदीर्घतर व्यापार की मीमांसा अपने ढंग से प्रस्तुत की

---

१. नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते। का० प्र० पंचम उल्लास, वृत्तिभाग।

है। अभिनवगुप्त इन दोनों को सम्मिलित रूप में प्रस्तुत करते हुए इनकी आलोचना प्रस्तुत करते हैं। उनका यह प्रस्तुतीकरण ठीक नहीं है। "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इस न्याय का सम्बन्ध व्यंजनास्थानीय तात्पर्यवृत्ति से है, जिसकी विवेचना धनिक इत्यादि तात्पर्यवादियों ने की है, जबकि शरव्यापार को दृष्टान्त मानकर अभिधा के ही दीर्घदीर्घतर व्यापार से व्यंग्यार्थ की प्रतीति करने वाले शुद्ध अभिधावादी आचार्य हैं। मम्मट ने इन दोनों मतों की भिन्नता पर दृष्टि रखते हुए इनकी आलोचना की है अतएव इनकी यह उपस्थापना संगत जान पड़ती है। अभिनवगुप्त को जिस सिद्धान्त का समर्थन करना होता है, उस पर तो ये अगाध श्रद्धा-भाव रखते हैं किन्तु विरोधियों पर प्रबल आक्रोश भी। इतना ही नहीं, ये अनभिमत सिद्धान्त को यथार्थ रूप से पूर्वपक्ष में भी नहीं रखते। इसका निदर्शन उनका उक्त विवेचन ही है।

यत्परः शब्दः स शब्दार्थः न्याय की आलोचना

तात्पर्यवादी "यत्परः शब्दः" इस मीमांसोक्ति के बल पर वक्तृविवक्षा रूप तात्पर्यवृत्ति की सिद्धि करते हैं। इस पर मम्मट का यह कहना है कि मीमांसकों ने इस उक्ति का प्रयोग जिस अर्थ में किया है उस अर्थ को न समझते हुए तात्पर्यवादी इसका अपने ढंग से मनमानी अर्थ करना चाहते हैं। वाक्य में सिद्ध एवं साध्य ये दोनों उपात्त होते हैं किन्तु वाक्य का तात्पर्य साध्य अंश जो विधेय है, उसी में होता है सिद्ध रूप उद्देश्य में नहीं। यद्यपि कारक पदार्थ सिद्ध होते हैं फिर भी साध्यक्रिया से विशिष्ट होने के कारण वे भी साध्य की ही भाँति माने जाते हैं। जिस प्रकार अग्नि का दाहक व्यापार अदग्ध अंश में ही प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार वैदिक विधि वाक्य भी अप्राप्त अंश के ही प्रापक होते हैं। मम्मट ने इसे सुस्पष्ट बनाने के लिये दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। ज्योतिष्टोम याग में "सोष्णीषा विनीतवसनाः ऋत्विजः प्रचरन्ति" यह वाक्य उद्धृत किया गया है, पुनः श्येनयाग में "लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति" इस वाक्य का उल्लेख हुआ है। पूर्व वाक्य के द्वारा सोष्णीष ऋत्विकों के प्रचरण का विधान कर दिये जाने के कारण उत्तर वाक्य में अप्राप्त अंश उष्णीषो का लौहित्यमात्र है। अतः इस वाक्य के द्वारा लौहित्यमात्र की ही विधेयता सिद्ध होगी। विधेयता अप्राप्त अंश में ही होती है, प्राप्त अंश में विधेयता नहीं होती है। इसी प्रकार "अग्निहोत्रं जुहोति" इस वाक्य से हवनक्रिया की विधेयता सिद्ध हो जाने पर "दध्ना जुहोति"

इस वाक्य से दधि की करणतामात्र का ही विधान होगा।[1] वैदिक वाक्यों की भांति लौकिक वाक्य भी अप्राप्त अंश का ही विधान करते हैं। वाक्य में जितना अंश अप्राप्त होगा, वाक्य की विधेयता भी उतने ही अंश में होगी। "रक्तं पटं वय" इस वाक्य में यदि तीनों अंश अप्राप्त होगें तो विधेयता सम्पूर्ण वाक्य में होगी यदि एक अंश पूर्ण सिद्ध होगा तो विधेयता मात्र दो ही अंशों में मानी जायेगी। मम्मट ने इन उदाहरणों से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि "यत्परः शब्द ..." यह मीमांसाशास्त्रोक्त वाक्य विधेयांश को ही वाक्य का तात्पर्यीभूत विषय बताने मात्र के लिये ही उपयोगी हो सकता है, और यह वाक्य में उपात्त होता है। वक्ता जिस अभिप्राय से वाक्य का उच्चारण करता है उस तात्पर्यार्थ के लिये स्वीकृत तात्पर्यवृत्ति का समर्थन इस वाक्य से नहीं हो सकता। वाक्य में उपात्त शब्दों का ही तात्पर्यार्थ सम्भव हो सकता है जबकि व्यंग्यार्य के लिए यह नियम नहीं बनता। अतएव तात्पर्यार्थ को व्यंग्यार्थ के समकक्ष मानना उचित नहीं है।[2]

यदि वाक्योपात्त शब्दों से व्यतिरिक्त अर्थ को भी तात्पर्यार्थ माना जायेगा तो "पूर्वो धावति" इति वाक्य का तात्पर्य "अपरो धावति" भी होने लगेगा।[3] वाक्योपात्त शब्दों का ही तात्पर्य मानने पर इस प्रकार का अतिप्रसंग नहीं उपस्थित हो सकेगा। उक्त वाक्य में उपात्त पूर्व शब्द नियत रूप से अपर शब्द की आकांक्षा रखता है अतः "अपरो धावति" यह भी तात्पर्यार्थ कहा ही जायेगा जो कि अभीष्ट नहीं है। इस उदाहरण से भी यही सिद्ध होता है कि तात्पर्य वाक्योपात्त शब्दों का ही होता है किन्तु व्यंग्यार्थ के लिये ऐसा नियम नहीं है। तात्पर्यशक्ति से बोध्य तात्पर्यार्थ को किसी भी प्रकार व्यंग्यस्थानीय नहीं सिद्ध किया जा सकता है। तात्पर्यवादी आचार्यों ने जिस तात्पर्यशक्ति द्वारा बोध्य तात्पर्यार्थ को व्यंग्यार्थ के समकक्ष बताकर व्यंजना के खण्डन में अपनी रुचि प्रदर्शित की थी, उसी की आलोचना इस सन्दर्भ में मम्मट ने की है।

तात्पर्यवादियों की ओर से मम्मट ने पूर्वपक्ष रखते हुए कहा है कि कहीं-कहीं वाक्य का तात्पर्य वाक्य में अनुपात्त शब्दों में भी दृष्टिगोचर होता है। "विषं भक्षय" इस वाक्य का तात्पर्य "इसके घर में भोजन मत करो" इस अर्थ

---

१. का० प्र०, प० उ०, पृ० २२६–२२७

२. वही, पृ० २७

३. वही, वृत्तिभाग।

जब वाक्य में विद्यमान पदों के अर्थ से अतिरिक्त अर्थ तात्पर्यार्थ माना जा सकता है, किन्तु इस अर्थ के वाचक शब्द का वाक्य में उपादान नहीं किया गया है, तो व्यंग्यार्थ को भी तात्पर्यार्थ कहा ही जा सकता है, पुनः इसके लिये अतिरिक्त व्यंजनाव्यापार की कल्पना निरर्थक है। इस पूर्वपक्षीय मत को अमान्य सिद्ध करने के लिये मम्मट तात्पर्यार्थ की वाक्योपात्तता की उपपत्ति करते हैं। "विषं भक्षय मा चाऽस्य गृहे भुंक्थाः" यह सुहृद्वाक्य है, अतः इस वाक्य के अन्तर्गत आये हुए चकार के द्वारा इसमें एकवाक्यता मानी जानी चाहिए। एक-वाक्यता होने पर ही "विषं भक्षय" इस वाक्य की सुहृद्वाक्यता सम्भव हो सकेगी। दूसरे समुच्चयार्थक चकार की भी सार्थकता तभी सिद्ध होगी। "एका तिङ्वाक्यम्" इस नियम के अनुसार यद्यपि दोनों वाक्य परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं तथापि "विषं भक्षय" यह सुहृद्वाक्य है। इसकी स्वतन्त्र सत्ता मान लेने पर वाक्यार्थ अनुपपन्न हो जायेगा। इस अनुपपत्ति का निराकरण दोनों वाक्यों की एकवाक्यता मानने से ही सम्भव है। इस प्रकार एकवाक्यता निष्पन्न हो जाने के बाद "इसके घर में भोजन करना विष भक्षण से भी बुरा है" इस तात्पर्यार्थ की प्रतीति वाक्योपात्त शब्दों से ही हो जाती है।[1] इस उदाहरण से भी आचार्य मम्मट ने तात्पर्यार्थ को वाक्योपात्त शब्दों तक ही सीमित माना है तथा व्यंग्यार्थ की अपेक्षा इसे सीमित परिधि में ही स्थापित करने का प्रयास किया है। जो तात्पर्यवृत्ति इस सीमित तात्पर्यार्थ के बोधन में समर्थ है उसकी क्षमता निरवधिक व्यंग्यार्थबोधन में मानी ही नहीं जा सकती।

"अयमुत्पतते पत्री ततोऽत्रैव रुचिं कुरु" इस पद्य के "रुचिं कुरु" इस भाग में अश्लीलता की प्रतीति व्यंजनाव्यापार मानने पर ही सम्भव हो सकेगी।[2] असभ्यार्थक चिकु पद पदार्थान्तर से अन्वित नहीं है, अतः इससे प्रतीत होने वाला अश्लीलार्थ अभिधेय भी नहीं माना जा सकता। वक्तृविवक्षारूप तात्पर्यशक्ति से भी उक्त अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि वक्तृतात्पर्य न होने पर भी सहृदयों को अश्लीलार्थ की प्रतीति तो होती ही है, भले ही वक्ता का अभिनिवेश उक्त अर्थ में न हो।

"वाणीरकुण्डगु" इत्यादि पद्य में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी वाच्यार्थ की चारुता के कारण वाक्यार्थ का पर्यवसान वाच्यार्थ में ही हो जाता

---

१. का० प्र०, प० उ०

२. का० प्र०, प० उ०, वृत्तिभाग

है।[1] यहां पर वाक्य का तात्पर्य विषयीभूत अर्थ वाच्यार्थ ही है। यदि तात्पर्यशक्ति तात्पर्यार्थ की ही प्रतीति कराती है, तो वाच्यार्थ रूप तात्पर्यार्थ की तो प्रतीति इससे होगी, किन्तु व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये इसकी यहाँ कोई उपयोगिता न मानी जायेगी। इस स्थिति में व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये व्यंजनाव्यापार को ही मानना आवश्यक होगा।

व्यंजना-व्यापार मानने पर व्यंग्यार्थ की अनेकता के कारण काव्य में असाधुत्वादि नित्यदोष एवं श्रुतिकटुत्व इत्यादि अनित्य दोषों का विभाजन सम्भव हो पाता है।[2]

काव्य में पर्यायवाचक शब्दों में से किसी शब्दविशेष के प्रयोग से काव्यानुगुणता की अनुभूति भी व्यंजनाव्यापार पर ही निर्भर है।[3] "द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः" इस पद्य में कपाली के स्थान पर पिनाकी शब्द के प्रयोग से अभिधेय में भेद न होने पर भी व्यंजनाव्यापार के द्वारा कपाली शब्द से जिस अशुचिता एवं बीभत्सता के कारण निन्दा का अवगमन होता है उसका पिनाकी पद से नहीं। पिनाकी पद से पिनाक के सम्बन्ध के कारण वीरावगति होती है जिससे निन्दा की बात तो दूर रही प्रत्युत प्रशंसा का ही भान हो जाता है।

अभिधावृत्ति द्वारा पदार्थसामान्य की उपस्थिति मानकर वाक्यार्थ रूप संसर्ग की प्रतीति के लिये तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार करने वाले अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के मत में भी व्यंग्यार्थ अभिधेय नहीं हो सकता। अभिधावृत्ति सामान्यरूप पदार्थों की उपस्थिति कराकर परिक्षीण हो जाती है तथा तात्पर्यवृत्ति का पर्यवसान अन्वयांश रूप वाक्यार्थ की ही प्रतीति कराने तक हो जाता है। जिस तात्पर्यवृत्ति से संसर्गांश की प्रतीति होती है उसी से संसर्गांश के बाद प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ भला कैसे बोधित हो सकता है? व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये अभिहितान्वयवादी अभिधा को समर्थ बता ही नहीं सकते। जिस अभिधा के द्वारा वाक्यार्थ की भी प्रतीति नहीं हो सकती, वह अभिधा अपनी कार्यता व्यंग्यार्थ

१. काव्य प्रकाश, प० उ०, वृत्तिभाग।
२. वही।
३. वही।

पर्यन्त तक स्थापित ही नहीं कर सकती।[1] अतः न तो व्यंग्यार्थ के लिए पदार्थ मात्र की प्रतीति कराने वाली अभिधा का सामर्थ्य माना जा सकता है और न तो संसर्गरूप वाक्यार्थ की प्रतीति कराने वाली तात्पर्यवृत्ति का।[2]

अन्विताभिधानवादी मीमांसक प्रयोज्यप्रयोजक वृद्धव्यवहार से व्युत्पित्सु बालक को संकेतग्रह परस्पर संसृष्ट पदार्थों में ही होता है, इस सिद्धान्त के पक्षधर हैं। शक्तिग्राहकों में शिरोमणिभूत व्यवहार ही माना गया है। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति रूप कार्य वाक्य के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं, इसलिये संकेतग्रह वाक्य में माना जाना चाहिये। वाक्य में संकेतग्रह मान लेने पर पुनः पदार्थों में शक्ति की कल्पना करने पर उपजीव्य विरोध भी आपतित हो जाता है। अन्विताभिधानवादी संकेतग्रह सापेक्ष शक्ति को भी वाक्य में ही मान लेते हैं, जिसके कारण उपजीव्य विरोध की स्थिति नहीं आने पाती। वाक्य में शक्ति स्वीकार करने वाले प्राभाकरमतानुयायी मीमांसक वाक्यार्थ का बोध तो अभिधा से कर सकते हैं, किन्तु वाक्यार्थ के बाद प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ अभिधा का विषय नहीं माना जा सकता। उक्त अन्विताभिधानवादी मीमांसकों के मत निरूपण में मम्मट ने एक मौलिक उद्भावना प्रस्तुत की है। "गानय" एवं अश्वमानय इन दोनों वाक्यों में प्रयुक्त आनयन पद में प्रत्यभिज्ञा के द्वारा एकत्व की प्रतीति होती है। इस प्रतीति के बल पर अन्वितसामान्य में ही शक्ति मानना समीचीन जान पड़ता है। गवादि पदार्थविशेष के साथ आनयन पद का सम्बन्ध मानने पर उक्त एकत्वविषयिणी प्रत्यभिज्ञा न हो सकेगी। "गामानय" इत्यादि वाक्यों को अपरपदार्थान्वित आनयन में ही शक्त माना जायेगा। अन्वित सामान्य में शक्तिग्रह मानने पर "निर्विशेष न सामान्यम्" इस न्याय के अनुसार गवादिविशेष के साथ अन्वय का बोध हो जायगा। इस प्रकार अन्वयसामान्य में शक्त वाक्यों से अन्वय विशेष का भान करना सामान्य विशेष की प्रक्रिया के अन्तर्गत माना गया है। इस स्थिति में अन्विताभिधानवादी गवानयनत्वादि रूप से गवानयन का बोध अभिधावृत्ति से नहीं कर सकते। इसी स्वरूप को मम्मट ने अतिविशेष पद से

---

१. का० प्र०, प्र० उ० वृ०।

२. सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षासन्निधियोग्यतावशात् परस्परसंसर्गो यत्राऽपदार्थोऽपि।

विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यंग्यस्याभिधेयतायाम्॥

—का० प्र०, प० उ०, वृत्तिभाग।

अभिहित किया है। जब अतिविशेष रूप वाक्यार्थ अभिधा का विषय नहीं बन सकता तो उसके भी बाद प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ अभिधा से कैसे बोधित हो सकेगा।[1]

अन्विताभिधानवादियों का यह मत आलोच्य है। व्यवहार से अन्वितविशेष में संकेतग्रह मानना तथा प्रत्यभिज्ञा के बल पर निष्पन्न एकत्वप्रतीति की सुरक्षा के लिये अन्वित सामान्य में शक्ति मानने पर उपजीव्यविरोध उपस्थित होता है। दूसरे अन्वितविशेष की प्रतीति के लिए "निर्विशेषं न सामान्यम्" इस न्याय के बल पर गवादिपदों के समभिव्याहार को अतिरिक्त रूप से कारण मानने पर लाघव की अपेक्षा गौरव उपस्थित होता है। अतः अन्वयांश की प्रतीति के लिये तात्पर्यवृत्ति को मानना, इनके पक्ष में भी संगत प्रतीत होता है।

विश्वनाथ के अनुसार

कविराज विश्वनाथ संसर्गरूप वाक्यार्थ एवं तात्पर्यार्थ की बोधिका तात्पर्य शक्ति के दोनों स्वरूपों पर दृष्टि रखते हुए पूर्वपक्ष करते हैं। इन्होंने तात्पर्य शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ लेकर पूर्वपक्ष किया है कि यदि इसका अर्थ तदर्थत्व है तो ध्वनिवादियों को भी कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि ये भी व्यंजनाव्यापार से तदर्थ का बोधन ही तो करते हैं। यदि तात्पर्य शब्द इससे भिन्न तात्पर्यशक्ति के लिये प्रयुक्त किया है तो यह तात्पर्यशक्ति संसर्गांश बोध कराने वाली, अभिहितान्वयवादियों द्वारा मानी गयी तात्पर्यशक्ति से भिन्न है अथवा वही है। संसर्गांश बोधिका तात्पर्यशक्ति व्यंग्यार्थ के बोधन में समर्थ हो ही नहीं सकती। "शब्द-बुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः" इस न्याय के अनुसार संसर्गांश बोधन में ही इसका सामर्थ्य समाप्त हो जाता है। अन्वयांशरूप वाक्यार्थ की प्रतीति कराने वाली तात्पर्यशक्ति से अतिरिक्त यदि कोई दूसरी तात्पर्यशक्ति व्यंग्यार्थ प्रतीति के लिये मानी जाती है, तो तात्पर्यवादियों के अनुसार भी चौथी वृत्ति की कल्पना स्वीकार ही कर ली गयी। यदि तात्पर्यवादियों के अनुसार तात्पर्यवृत्ति व्यंग्यार्थ का बोध कराती है तो व्यंजनावादियों के अनुसार व्यंजना। तब तो इसमें नाम मात्र का विवाद है। इसके अतिरिक्त कोई विशेष अन्तर विश्वनाथ की दृष्टि में नहीं आ पाया है।[2]

---

१. का० प्र०, पं० उ०, वृत्तिभाग।

२. सा० द०, पं० प०, वृत्तिभाग।

अन्वयांश बोधिका तात्पर्यवृत्ति विभावादिक संसर्ग एवं रसादि का प्रकाशन एक ही साथ करा देगी, अतः चतुर्थवृत्ति का प्रश्न ही नहीं उत्थित होता। इस पूर्वपक्षीय मत का निराकरण करते हुए विश्वनाथ का कहना है कि विभावादिक एवं रसादिक में परस्पर कार्य कारणभाव माना गया है। दोनों की युगपत् प्रतीति होने पर इनकी कारणता व्याहत हो जायेगी। जिस प्रकार एक ही साथ उत्पन्न होने वाले सव्येतर विषाण में पौर्वापर्य के अभाव के कारण कार्यकारणभाव नहीं माना जाता उसी प्रकार विभावादिक का रसादिक के साथ कार्यकारणभाव मान्य न हो सकेगा। इनकी कारणता की कल्पना "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" इस भरतसूत्र से ही सिद्ध हो जाती है। परस्पर कार्यकारणभाव तभी सम्भव हो सकेगा जबकि इनकी प्रतीति क्रमिक मानी जाय। क्रमिक प्रतीति स्वीकार कर लेने पर तात्पर्यशक्ति विभावादिसंसर्ग की प्रतीति कराकर "शब्द बुद्धिकर्मणां " इस न्याय के अनुसार क्षीणव्यापार हो जायेगी। पुनः रसादिरूप अर्थ का अवबोध चौथी वृत्ति से ही हो पायेगा। भले ही उसका नाम व्यंजनाव्यापार न होकर तात्पर्यवृत्ति हो।[1]

विश्वनाथ ध्वनिवादी आचार्य होते हुए भी तात्पर्यवृत्ति के समर्थक प्रतीत होते हैं। जहाँ अभिनवगुप्त एवं मम्मट ने मात्र व्यञ्जनाव्यापार को ही व्यंग्यार्थ प्रतीति के विषय में सक्षम बताया वहाँ विश्वनाथ रसादिरूप अर्थ के लिये भी तात्पर्यवृत्ति का सामर्थ्य स्वीकार करते हैं। चतुर्थी वृत्ति की कल्पना का गौरव, जिसे विश्वनाथ ने दोष के रूप में दर्शित किया है वह तो दोनों के लिये समान है।

उपसंहार

तात्पर्यवृत्तिविरोधी इन समीक्षकों के पूर्वपक्षों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। इनमें कुछ ऐसे आचार्य हैं जो तात्पर्यवृत्ति का पर्यवसान अन्वयांश बोधन में ही मानकर व्यंग्यार्थ के प्रति इसके असामर्थ्य को सिद्ध करते हैं। दूसरे ऐसे हैं जो संसर्गांश बोधिका एवं व्यंग्यार्थस्थानीय तात्पर्यार्थ बोधिका दोनों का पार्थक्य स्थापित करते हैं। प्रथम वर्ग में मात्र अभिनवगुप्त आते हैं। इन्होंने तात्पर्यवृत्ति का क्षेत्र मात्र अन्वयांश बोध तक माना है। दूसरे वर्ग में मम्मट एवं विश्वनाथ को माना जा सकता है। ये दोनों आचार्य तात्पर्यवृत्ति के उभयस्वरूपों पर दृष्टि रखते हुए इसकी आलोचना के विषय में प्रवृत्त होते हैं, किन्तु व्यंजनावृत्ति के लिए तात्पर्यवृत्ति का बलिदान कर जाते हैं।

---

१. सा० द० पं० प० वृत्तिभाग।

—:०:—

सप्तम अध्याय

तात्पर्यशक्ति में व्यंजनाशक्ति का गतार्थतावाद

तात्पर्यवृत्ति : मीमांसाशास्त्र के अनुसार

मीमांसकों के अनुसार अभिधात्री एवं तात्पर्यशक्तियों में अभिधात्री शक्ति पदार्थ प्रतीति मात्र कराती है किन्तु संसर्गांश रूप वाक्यार्थ का बोध तात्पर्यशक्ति से ही होता है।[1] जब तक प्रयोजनीभूत वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं हो जाती, तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान नहीं होता। तात्पर्यशक्ति वाक्यार्थ प्रतिपादिका शक्ति है।[2] वक्ता किसी प्रयोजन विशेष की प्रतिपत्ति कराने के लिये ही वाक्योच्चारण करता है। प्रयोजन रहित वाक्य का उच्चारण ही नहीं किया जाता।[3] प्रयोजनविशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतीति तात्पर्यवृत्ति से ही होती है।

पौरुषेय वाक्यों की प्रामाणिकता भी वक्ता के अधीन मानी जाती है।[4] वक्ता विवक्षित अर्थ प्रकाशन के लिए ही वाक्य प्रयोग करता है।[5] इस तरह वाक्य प्रयोग का प्रमुख उद्देश्य विवक्षित अर्थ का प्रत्यायन है। मीमांसा शास्त्र में विवक्षित अर्थ की प्रतीति कराने हेतु अवान्तर तात्पर्य एवं महातात्पर्य की कल्पना की गयी है। अवान्तर तात्पर्य से पदार्थ मात्र की प्रतीति होती है, किन्तु महातात्पर्य का

---

१. अभिधात्री मता शक्तिः पदानां स्वार्थनिष्ठता।
तेषां तात्पर्यशक्तिस्तु संसर्गावगमावधिः॥ —न्या० मं०, प्रमाण प्रकरण।

२. पदानां हि द्वयोशक्तिः अभिधात्री तात्पर्यशक्तिश्च, तथाभिधात्री शक्तिः एषां पदार्थेपूपयुक्ता तात्पर्यशक्तिश्च वाक्यार्थे पर्यवस्यतीति॥
—न्या० मं०, प्रमाण प्रक०, पृ० ३५८।

३. नहि प्रयोजनापेतं वाक्यमुच्चार्यते क्वचित्। —श्लो० वा० वा० ३४६

४. प्रामाण्यस्थापनं तु स्याद वक्तृधीहेतुसम्भवात्।
—श्लो० वा०, चोदना सू०, का० १६७

५. पदार्थरचनायत्तो वाक्यार्थप्रत्ययोद्भवः।
विवक्षापूर्वविज्ञानघटाच्चरचनाकृतिः॥
—वही, का० १६३

पर्यवसान तात्पर्य विषयीभूत वाक्यार्थ प्रतीति के बाद ही होता है।[1] इसी महातात्पर्य को ही तात्पर्यवृत्ति का व्यंग्यार्थ स्थानीय तात्पर्यार्थ बोधन में सक्षम स्वरूप माना गया है।

तात्पर्यवृत्ति का द्वितीय रूप अतिव्यापक है, इसी के लिये मीमांसक महातात्पर्य शब्द का प्रयोग करते हैं। वाक्यप्रयोग का प्रयोजन भी महातात्पर्य में ही परिसमाप्त होता है। वाक्य में इस महातात्पर्य की स्थिति तब तक बनी रहती है; जब तक कि वक्ता का तात्पर्य बोद्धा को प्रतीत न हो जाय।

साहित्यशास्त्र में तात्पर्यवृत्ति का अवतरण

मीमांसक इस तात्पर्यवृत्ति का उपयोग व्यंग्यार्थ स्थानीय तात्पर्यार्थ की प्रतीति के लिये करते थे। किन्तु इसकी अवतारणा साहित्यशास्त्र में नहीं हुई थी। काव्यशास्त्र में इसका सर्वप्रथम प्रयोग धनिक ने किया है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' न्याय के बल पर वक्तृतात्पर्यावबोधन तक तात्पर्य की सीमा निर्धारित करते हुए इस तत्त्वदर्शी समीक्षक ने तात्पर्यवृत्ति को व्यङ्ग्यार्थ प्रतिपादन में सक्षम बताया तथा व्यंजना नामक अतिरिक्त व्यापार की अनुपयोगिता पर पूर्ण प्रकाश डाला।

तात्पर्यार्थ की वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्नता

जिस प्रकार व्यंजनावादियों ने व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न सिद्ध करके व्यंजना नामक वृत्ति से ही उसे गम्य बताया, उसी प्रकार तात्पर्यवादी धनिक भी तात्पर्यार्थ को वाच्य एवं लक्ष्य से पृथक् सिद्ध करते हैं। तात्पर्यार्थ न तो वाच्यवाचक भाव रूप है और न तो लक्ष्यलक्षक भाव रूप ही। इस तात्पर्यवृत्ति को अभिधा एवं लक्षणा से भिन्न मानते हुए इसे तात्पर्यार्थ के प्रति औपयिक मानना तात्पर्यवादियों का अभिप्रेत प्रतीत होता है।

तात्पर्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की पर्यायवाचिता

व्यंजनावादी जिस अर्थ को व्यंग्यार्थ कहता है उसे तात्पर्यवादी तात्पर्यवृत्ति का क्षेत्र मानता है। तात्पर्यार्थ के अतिरिक्त प्रतीयमान अथवा व्यंग्यार्थ हो ही नहीं सका जब तात्पर्य के अतिरिक्त व्यंग्यार्थ नामक कोई अर्थ अवशिष्ट ही नहीं

---

१. वाक्यस्य द्विविधं तात्पर्यम्, अवान्तरतात्पर्यं, महातात्पर्यं चेति।

—न्या० रत्न मा०, वा० नि०, टिप्पणी भाग।

रहता, तो उसकी प्रतीति कराने के लिये व्यंजनाव्यापार मानना ठीक नहीं है।[1] तात्पर्यवृत्ति को यावत्कार्यप्रसारी माना है।[2]

व्यंजनावादियों ने "भ्रमधार्मिकविश्रब्धः सः शुनकोऽद्यमारितस्तेन। गोदावरी नदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन।" गाथा में तात्पर्य का पर्यवसान विधि अर्थ में ही माना है और निषेध अर्थ की प्रतीति व्यंजनाव्यापार के द्वारा ही सम्भव बताया है। क्योंकि इन लोगों ने धारणा बना ली है कि अन्वयांशरूप वाक्यार्थ के बोध में तात्पर्यशक्ति उपक्षीण हो जाती है।[3] इस आक्षेप का समाधान करते हुए धनिक का कहना है कि क्रिया कारक रूप संसर्गांश की पूर्ति हो जाने पर एक ओर तो आकांक्षा समाप्त होने के फलस्वरूप वाक्यार्थ को पूर्ण माना जाता है, किन्तु दूसरी ओर यदि वाक्य से वक्ता के अभीष्ट अर्थ की प्रतीति न हुई तो उसे अपूर्ण भी माना जाता है। उक्त गाथा में विधिरूप अर्थ की प्रतीति होने पर अन्वयांश रूप वाक्यार्थ तो पूर्ण माना जायेगा, किन्तु वक्त्री नायिका के अभीष्ट अर्थ की पूर्ति न होने से इसे तब तक अपूर्ण माना जायेगा, जब तक कि निषेधरूप अर्थ की प्रतीति न हो जाय। इससे यह स्पष्ट होता है कि धनिक की दृष्टि अवान्तर तात्पर्य एवं महातात्पर्य रूप उभयविधमीमांसकाभिमत तात्पर्य रूपों पर है। यहाँ पर अवान्तर तात्पर्य क्रियाकारक विशिष्ट वाक्यार्थ के बोधन में सहायक है, किन्तु महातात्पर्य, निषेधरूप वक्त्री नायिका के अभिप्रायविशेष का बोध कराकर ही उपक्षीण होता है।

व्यंजनावादियों ने यहाँ तात्पर्य की क्षीणता इसलिए बतायी है कि उनका ध्यान अन्वयांशबोधक तात्पर्यमात्र पर ही केन्द्रित है। ऐसी बात नहीं है कि इन्हें वक्तृ विवक्षारूप तात्पर्य का परिज्ञान ही न हो। अभिनवगुप्त इससे पूर्ण परिचित होते हुए भी व्यंजना समर्थक होने के कारण इसकी स्वरूप चर्चा एवं उपयोगिता के बारे में विशेष विमर्श नहीं करते हैं।[4] लोचनकार तात्पर्यवृत्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराना रुचिविभिन्नता मात्र मानते हैं। इसका आशय यही है कि

---

१. तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यंजनीयस्य न ध्वनिः, दशरूपक, अव०, पृ० २४९।
२. यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम्, वही, पृ० २५०।
३. ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः ध्वन्या० लो०, पृ० ८८।
४. यत्तु ध्वनिव्याख्यानायोद्यतस्तात्पर्यशक्तिमेव विवक्षासूचकत्वमेव वा ध्वननमवोचत्, स वाऽस्माकं हृदयमावर्जयति। यदाहुः भिन्नरुचिर्हि लोकः।

—ध्वन्या लो०, पृ० १२८

यद्यपि तात्पर्यवृत्ति व्यंग्यार्थ बोधन में सक्षम है किन्तु व्यंजना के प्रति आकर्षण होने के कारण इसकी उपादेयता को यह स्वीकृति नहीं प्रदान करते।

लोचनकार के मत की आलोचना

लोचनकार तात्पर्यवृत्ति के साथ निष्पक्ष व्यवहार नहीं करते हैं। उक्त कारिका के व्याख्यान में पूर्वपक्ष तो वक्तृविवक्षा रूप तात्पर्यशक्ति को सामने रखकर करते हैं। किन्तु उत्तर पक्ष प्रस्तुत करते समय तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान अन्वयांश बोध में ही सीमित कर देते हैं। यदि इनका आशय अन्वयांश-बोधिका तात्पर्यशक्ति से है, तो उसके स्वरूप निरूपण में वक्तृविवक्षा पद का सन्निवेश ठीक नहीं है। क्योंकि संसर्गांशबोधिका तात्पर्यवृत्ति तो मात्र पदगत अथवा वाक्यगत वृत्तिविशेष है और इसकी उपयोगिता मात्र संसर्गांश की प्रतीति कराना है। वक्तृविवक्षा रूप तात्पर्यशक्ति तो यावतकार्यप्रसारी होने से वक्ता के अभीष्ट तात्पर्य का बोध कराने के अनन्तर ही उपरत व्यापार होगी। इस प्रकार पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष में इसके लोचन में जो स्वरूप निर्देशित किया गया है, वह भ्रान्तिपूर्ण है।[1]

व्यंजनावादियों के पक्ष से यह आपत्ति प्रस्तुत की जा सकती है कि—"कस्त्वं भो कथयामि दैव हतकं" इत्यादि अन्योक्ति रूप काव्य से प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ तात्पर्यार्थ में समाहित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि शाखोटक जड़ है, अतः वक्तृइच्छा रूप तात्पर्य जो चेतन का धर्म है, उसमें बाधित होने से सम्भव ही नहीं है। इसका समाधान तात्पर्यवादियों की ओर से यही है कि इस पद्य का वक्ता तो कवि है उसी के तात्पर्य से वाक्यार्थ की उपपत्ति हो जायगी, पुनः शाखोटक के तात्पर्य की अपेक्षा ही नहीं है।

व्यंजनावादी "निःशेषच्युतचन्दनं" इत्यादि पद्य में अधम पद प्रयोग के कारण विध्यादि अर्थ को व्यंजना से बोधित मानते हुए उसे व्यंग्यार्थ कहता है, किन्तु तात्पर्यवादी समीक्षक उक्त पद्य में विधि रूप अर्थ को तात्पर्यार्थ ही मानेगा। संसर्गरूप वाक्यार्थ की प्रतीति होने पर भी तात्पर्यार्थ रूप वाक्यार्थ की प्रतीति कराने वाली तात्पर्यवृत्ति विधि रूप अर्थ की प्रतीति कराकर ही निवृत्तव्यापार होगी। व्यंग्यार्थ की प्रतीति, व्यंजना अधमादि पद के सहकार से ही तो करा

---

१. ध्वन्या० लोचन, पृ० ८७

पाती है। तात्पर्यार्थ के लिये भी इनकी सहकारिता को कारण मानना संगत रहेगा। उक्त पद्य में व्यंजनावादियों को किसी भी प्रकार के ऐसे आक्षेप का अवसर नहीं मिलता जिससे कि वे तात्पर्यवृत्ति पर दोषारोपण कर सकें।

"वानीरकुंजोड्डीन" इस पद्य में व्यंजनावादी तात्पर्यवृत्ति का असामर्थ्य सिद्ध करते हैं।[1] व्यंग्यार्थ स्वरूप तात्पर्यार्थ की प्रतीति यहाँ भी तात्पर्यवृत्ति से सम्भव है। जिस प्रकार ध्वनिवादियों की व्यंजनावृत्ति इस स्थल में व्यंग्यार्थ का बोध कराती है उसी प्रकार तात्पर्यवृत्ति भी तात्पर्यार्थ की प्रतीति कराती है।

आचार्य मम्मट के मत की आलोचना

इस प्रसंग में आचार्य मम्मट ने तात्पर्यवृत्ति के समर्थक मीमांसकों के मत की जो आलोचना प्रस्तुत की है उसकी भी पर्यालोचना अपेक्षित होगी। "नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते" इस न्याय का आश्रय लेकर मीमांसकों ने नैमित्तिक भूत व्यंग्यार्थ अथवा तात्पर्यार्थ की प्रतीति के लिये शब्द को ही निमित्त माना है। शब्द में कारकता एवं ज्ञापकतारूप दोनों निमित्तताओं का मीमांसकों के अनुसार होना सम्भव नहीं है। शब्द से अर्थ की उत्पत्ति तो होती नहीं, अतः शब्द में कारकरूप निमित्तता नहीं हो सकती। शब्द अर्थ का ज्ञापक है, अतः इसमें ज्ञापकता रूप निमित्तता तो हो सकती है, किन्तु शब्द ज्ञात अर्थ का ही ज्ञापक हो सकता है। व्यंग्यार्थ में मीमांसकों के अनुसार शब्द की वृत्ति न होने से इसके प्रति इसकी ज्ञापकता रूप निमित्तता नहीं मानी जा सकती।[2] इन युक्तियों के आधार पर मम्मट ने मीमांसकों के इस न्याय का खण्डन प्रस्तुत किया है, किन्तु विचार करने पर उक्त न्याय में ही संगति प्रतीत होती है। व्यंजनावादी आचार्य भी तो व्यंग्यार्थ के प्रति शब्द को ही निमित्त मानता है। यहाँ तक कि आर्थी व्यंजना में भी शब्द की सहकारिता अपेक्षित होती है।[3] इस स्थिति में शब्द की निमित्तता तो सर्वमान्य है ही। व्यंग्यार्थ अथवा तात्पर्यार्थ के प्रति शब्द की निमित्ततावृत्ति सापेक्ष है। इस सम्बन्ध में मीमांसक व्यंजना के स्थान पर तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख

---

१. का० प्र०, पं० उ०, वृत्तिभाग।

२. काव्य प्रकाश, पं० उ० वृत्तिभाग।

३. शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।
अर्थस्य व्यंजकत्वे, तत् शब्दस्य सहकारिता॥
—का० प्र०, ३।३८ सूत्र।

करके शब्द की वृत्ति सापेक्षता रूप निमित्तता का व्युत्पादन कर सकते हैं। अतः उक्त खण्डन में मम्मट की युक्तियाँ प्रौढ़ नहीं प्रतीत होती।

"यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इस न्याय एवं भट्टलोल्लट के दीर्घ दीर्घतर अभिधाव्यापार में भेद स्थापना

आचार्य मम्मट ने मीमांसकों के मत के खण्डनार्थ ही "सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरो व्यापारः" एवं यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इन वाक्यों को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित किया है।[1] यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इस वाक्य को लेकर साहित्य-क्षेत्र में तात्पर्यवृत्ति का सर्वप्रथम प्रौढ़ निरूपण धनिक ने किया है। किन्तु 'सोऽयमिषोरिव—–' इस वाक्य को धनिक अपनी तात्पर्यवृत्ति के लिये उपयोगी नहीं मानते। शरदृष्टान्त से तो यही ज्ञात होता है कि इस वाक्य के उद्भावक समर्थक लोल्लट एवं अन्य आचार्य केवल अभिधा वृत्ति से ही वाच्यार्थ से लेकर तात्पर्यार्थ तक की प्रतीति करना चाहते हैं। किन्तु धनिक तात्पर्यार्थ का बोध तात्पर्यवृत्ति से ही मानते हैं, न कि अभिधा मात्र से ही। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने उक्त मत का सम्बन्ध भट्टलोल्लट से जोड़ने का प्रयास किया है। जो भी हो, यह मत मूलरूप में मीमांसकों का ही माना जाना चाहिये। अभिधा के अवान्तरतात्पर्य एवं महातात्पर्य मानने वाले मीमांसक महातात्पर्य से तात्पर्यार्थ की प्रतीति मानते हैं। इनका यह मत प्राचीन वैयाकरणों के मत से मिलता-जुलता है। प्राचीन वैयाकरण भी अभिधा के भेदों में से अप्रसिद्ध भेद के द्वारा ही तात्पर्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ की प्रतीति मानते हैं।[2] अतः एक अभिधाव्यापार से व्यंग्यार्थ अथवा तात्पर्यार्थ की प्रतीति मानना तो ठीक नहीं ही है क्योंकि संकेतित अर्थ से अतिरिक्त अर्थ के बोधन में भी शब्द की अभिधाशक्ति का ही व्यापार माना जाना उचित नहीं है। अतः एक ही अभिधाशक्ति से समस्त अर्थों की प्रतीति मानना न केवल व्यंजनावादी के ही मत के विरुद्ध है अपितु तात्पर्यवादी भी इसे बिल्कुल नहीं मानता।

"यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इस न्याय के अनुसार जिस तात्पर्य की प्रतीति कराने के लिये वक्ता वाक्य का प्रयोग करता है वह तात्पर्यार्थ अथवा वाक्यार्थ

---

१. का० प्र० पंचम उ०, वृत्तिभाग।

२. वै० भू० सा०, शक्ति नि०।

होता है, इस तात्पर्य स्वरूप में मम्मट दोषों का उद्घाटन करते हैं।[1] इन्होंने इस मीमांसोक्ति की मीमांसा करते हुए कहा है कि वाक्य में प्रयुक्त सिद्ध एवं साध्य इन दोनों में से तात्पर्यविषयीभूत साध्य होता है क्योंकि विधेयता उसी में रहती है। अनधिगत अर्थ का प्रमापक वाक्य विधेयांश की प्रतीति कराने से ही प्रामाण्य का विषय बनता है। मीमांसकों ने उक्त उक्ति का प्रयोग विधेयांश को तात्पर्य का विषय बताने के सन्दर्भ में किया है, न कि सामान्य तात्पर्य को तात्पर्यार्थ अथवा वाक्यार्थ निरूपित करने के उद्देश्य से। अपने इस कथन को सुस्पष्ट बनाने के लिए मम्मट ने अनेक उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं जिनका प्रकृत में उल्लेख करना अनावश्यक सा है। किन्तु मम्मट का यह विवेचन तात्पर्यवादियों का अभिमत नहीं हो सकता। भले ही वैदिक वाक्यों का प्रामाण्य विधेयांश में मानने वाले मीमांसक अपौरुषेय वाक्यों के बारे में उक्त न्याय का मम्मटोक्त आशय स्वीकार करते हों, किन्तु लौकिक वाक्यों में वे भी वाक्य का प्रयोजन तात्पर्यार्थ में ही निहित मानते हैं। यदि ऐसी स्थिति न होती तो अवान्तर वाक्यार्थ का तात्पर्य महावाक्यार्थ में मीमांसक कभी भी स्वीकार न करते। मीमांसक अपनी उक्ति का जो अर्थ अपौरुषेय वेदार्थ निर्णय में मानेंगे क्या ठीक वही अर्थ वे पौरुषेय काव्य वाक्यों के सम्बन्ध में स्वीकार करेंगे?

दूसरे, मम्मट तात्पर्यवादियों के सम्बन्ध में जिन युक्तियों का सहारा लेते हैं क्या वे ही युक्तियाँ उनके ध्वनिसिद्धान्त एवं व्यंजनाव्यापार को धराशायी नहीं करती हैं? वैयाकरणों के द्वारा अनित्य वैखरी वाणी के लिये प्रयुक्त ध्वनिशब्द ध्वनिवादियों के यहाँ वाचक, वाच्य, व्यंजना, प्रतीयमान और काव्य इन पाँच अर्थों में व्यवहृत हुआ है। अपने सिद्धान्त के असंख्य दोष इसलिए क्षम्य हैं कि उसमें अपनापन है। तात्पर्यवादियों के प्रति मम्मट के मन में पर्याप्त खीझ है। यदि वे इनके मत खण्डनार्थ प्रबलयुक्तियाँ नहीं पाते तो इन्हें 'देवानां प्रियः' इत्यादि अपशब्दों का ही भाजन बनाकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। मम्मट ने इस प्रसंग में शुद्ध समालोचक के स्वरूप का सर्वथा परित्याग कर दिया है। इसी सन्दर्भ में इन्होंने तात्पर्यवादियों पर यह भी आक्षेप करने का प्रयास किया है कि यदि जिस किसी सम्बन्ध से प्रतीत होने वाले अर्थ को तात्पर्यार्थ कहा जायगा और उसे वाक्यार्थ माना जायगा तो 'पूर्वो धावति' वाक्य का तात्पर्यार्थ कभी 'अपरो धावति' भी हो सकता है क्योंकि पूर्व शब्द की अपर शब्द के साथ

---

१. का० प्र०, पं० उ०, वृत्तिभाग।

नित्यसाकांक्षता है।[१] मम्मट का यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार व्यंजनावादी व्यंजनावृत्ति से व्यंग्यार्थ की प्रतीति वक्तृबोद्धव्य इत्यादि के सहकार से करते हैं उसी प्रकार तात्पर्यवादी भी तात्पर्यवृत्ति से तात्पर्याविगम प्रकरणादि सापेक्ष मानते हैं। जिस किसी सम्बन्ध से सम्बन्धित अर्थ में वाक्य का तात्पर्यार्थ माना ही नहीं जा सकता। तात्पर्यवृत्ति है, अतः वृत्तिसम्बन्ध से उपस्थापित अर्थ ही तो इसका विषय बन सकता है। मम्मट ने इस वृत्ति के स्वरूप पर विमर्श किये बिना ही दोषारोपण करना प्रारम्भ किया है। मम्मट इस स्थल पर तात्पर्यशब्द का अर्थ अभिप्राय मात्र समझते हैं, जो तात्पर्यवादियों का अभीष्ट नहीं है। यहाँ तक कि ये तात्पर्यवृत्ति को सीमित मानकर वाक्य में उपात्त शब्दों के अर्थबोधन तक ही इसका कार्यक्षेत्र सिद्ध करते हैं। व्यंजनावादी अपने व्यंजनाव्यापार को सीमाओं में नहीं बाँध सकते किन्तु दूसरे समीक्षकों द्वारा अपनायी गयी वृत्ति को दायरे में बाँधना चाहते हैं, जो अन्यायपूर्ण है।

आचार्य मम्मट "विषं भक्षय मा चाऽस्य गृहे भुंक्थाः" इस उदाहरण से प्रतीत होने वाले "इसके घर में भोजन करना विषभक्षण से भी बुरा है" अर्थ को तात्पर्यवृत्तिबोध्य नहीं मानते। इनके अनुसार तात्पर्यवृत्ति वाक्योपात्त शब्द के अर्थबोधन तक ही सीमित होने के कारण उक्त अभिप्रेत अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकती। इन्होंने सुहृद्वाक्य होने के कारण दोनों वाक्यों में अंगांगिभावसम्बन्ध मानकर एक वाक्यता मानी है जिसके फलस्वरूप प्रथम भाग से "शत्रु के गृह में भोजन करना विष भक्षण से भी अधिक निन्द्य है अतः इसके घर में भोजन मत करो" यह तात्पर्यार्थ वाक्योपात्त शब्दों के अर्थ से ही सिद्ध हो जाता है[२]। मम्मट ने इतनी माथापच्ची इसलिये की है कि ये तात्पर्य को तो उपात्त शब्दों के अर्थ मात्र तक सीमित देखना चाहते हैं और स्वाभिमत व्यंजना को वाक्य में अनुपात्त शब्दों के अर्थ की बोधिका मानकर उसका क्षेत्र विस्तृत प्रतिपादित करना चाहते हैं। जब प्रकरणादिक सापेक्ष व्यंजना के लिये ये सीमा निर्धारित नहीं करते, तो इन्हीं प्रकरणादिक की सहायता से तात्पर्यवृत्ति भी वाक्य में अनुपात्त शब्दो के अर्थ की भी प्रतिपादिका हो सकती है। तात्पर्य तो व्यंजना से भी अधिक

---

१. पूर्वो धावतीत्यादावपराद्यर्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात्, का० प्र०, पं० उ०, वृत्तिभाग।

२. का० प्र०, पं० उ०, वृत्तिभाग।

असीमित है। व्यंजना का प्रयोग काव्यशास्त्रियों ने काव्यशास्त्र के लिये नूतन आविष्कार के रूप में किया, किन्तु तात्पर्यवृत्ति काव्यक्षेत्र के साथ ही साथ लोक व्यवहार को भी अपना क्षेत्र बनाती है।

वाक्य में उपात्त शब्दों का अर्थ अभिधा प्रतिपादित करती है अतः यदि तात्पर्य को भी मम्मट इसी रूप में मानते हैं तो अभिधा एवं तात्पर्यवृत्तियों का पार्थक्य ही क्या होगा? अभिधा संकेतित अर्थ मात्र तक सीमित है, किन्तु तात्पर्यवृत्ति के लिये ऐसा नहीं माना जा सकता। 'विषं भक्षय' इत्यादि वाक्य में सुहृद्वक्तृता के कारण अंगांगिभाव मानने की अपेक्षा तात्पर्यवृत्ति की कल्पना समीचीन इसलिये जान पड़ती है कि वक्तृ एवं बोद्धव्य के वैशिष्ट्य के कारण यहाँ तात्पर्यार्थ की प्रतीति करना अतीव सुकर है।

अभिधा एवं लक्षणा से अतिरिक्त तात्पर्य वृत्ति मान लेने पर "श्रुतिलिंगवाक्य-प्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये परदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" इस मीमांसा न्याय से भी विरोध नहीं होगा। इस न्याय में उल्लिखित श्रुत्यादिक में भिन्न-भिन्न व्यापारों की प्रयोजकता होने से अर्थोपस्थिति समकाल में न होगी जिससे अर्थविप्रकर्ष की स्थिति बनी रहेगी।[1]

"अयमुत्पतते पत्री ततोऽत्रैव रुचिकुरु" पद्य के रुचिकुरु भाग में अश्लीलता बोध के लिये न तो व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता है और न तो तात्पर्यवृत्ति की ही। यहाँ अश्लीलार्थ की प्रतीति पदों से ही हो जाती है भले ही वे पद निरर्थक हों। अतः अश्लीलार्थ द्योतकता के लिये मम्मट ने जो व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता बताई है उचित नहीं जान पड़ता।

रसों के नित्यानित्य दोषों का विभाजन भी व्यंजना की अपेक्षा तात्पर्यवृत्ति से अधिक सुकर है।[2] व्याकरणव्युत्पत्ति विरहितयुतसंस्कृत्यादि दोष तात्पर्यावगमन में सर्वदा व्याघात उत्पन्न करने के कारण नित्यदोष तथा श्रुतिकटुत्वादि शृङ्गार में तात्पर्यबोध के प्रतिकूल तथा रौद्रादिक में अनुकूल होने के फलस्वरूप अनित्य दोष की कोटि में अन्तर्निविष्ट समझे जा सकते हैं। अतः एतदर्थ व्यंजना की कल्पना निरर्थक है।

---

१. का० प्र०, पं० उ०, वृत्तिभाग।

२. वही।

इसी प्रकार काव्य में पर्यायवाचक शब्दों में से किसी एक शब्दविशेष के ही प्रयोग से काव्यानुगुणत्व का संसाधन भी तात्पर्यवृत्ति से सम्भव है।[1] 'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः'' इत्यादि कालिदासीय पद्य में पिनाकी का प्रयोग न करके कपाली का प्रयोग इसी तात्पर्य से तो किया गया है कि कपाली पद से कपाल को शिव से सम्बन्धित बताकर शिव की कवि विवक्षित जिस घृणापरक निन्दा का प्रकाशन होगा वह पिनाकी पद से नहीं। क्योंकि 'पिनाकी' विशेषण से तो शिव का प्रशंसापरक शौर्य प्रकट होने लगेगा, जो कवि के तात्पर्य के प्रतिकूल होगा। आशय यह है कि कवि की तात्पर्यसिद्धि में प्रयोजक पिनाकी पद न होकर कपाली पद ही है। जहाँ काव्यानुगुणता में कवि विवक्षितार्थ सिद्धि के लिये पर्यायवाचक शब्दों के मध्य में से किसी एक शब्द विशेष का प्रयोग कारण है वहाँ तो अवसर तात्पर्यवृत्ति का ही हो सकता है, व्यंजना की तो यहाँ अपेक्षा ही नहीं प्रतीत होती।

जिस प्रकार वक्तृश्रोतृ के वैशिष्ट्य से "गतोऽस्तमर्कः'' इत्यादि वाक्यों में व्यंग्यार्थ का नानात्वसिद्ध होता है।[2] उसी प्रकार इन्हीं सहकारी हेतुओं के सहयोग से तात्पर्यार्थ भी नाना हो सकता है। तात्पर्यवृत्ति भी तात्पर्यावबोध के लिये वक्तृ बोद्धव्य इत्यादि के वैशिष्ट्य की अपेक्षा रखती है। फलस्वरूप उनके भेद से तात्पर्यार्थ में भी अनेकत्व का होना सहज है। कवि के अभीष्ट जिस तात्पर्य की प्रतीति सहृदय श्रोता करेगा उसकी प्रतीति करना सामान्य श्रोता के वश की बात न होगी।

आचार्य विश्वनाथ के मत की पर्यालोचना

व्यंजनावादी आचार्य विश्वनाथ ने तात्पर्य के दोनों स्वरूपों को समुद्घाटित किया है। भले ही इनका तात्पर्यवृत्ति निरुपण पूर्वपक्षीय हो किन्तु उसका स्वरूप विवेचन, यथार्थ हुआ है। इस आचार्य ने तात्पर्य का अर्थ करते समय तदर्थत्व अथवा तात्पर्यवृत्ति के द्वारा अर्थ विशेष के बोधन का सामर्थ्य, इन दो विकल्पों को प्रस्तुत किया है। तात्पर्यशक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थरूप तात्पर्य का बोधन होता है, इस विषय में विश्वनाथ का किसी भी प्रकार का वैमत्य नहीं है।

---

१. का० प्र०, पं० उ०, वृत्तिभाग।

२ वही।

व्यंग्यार्थ के बोधन के लिए तात्पर्यवृत्ति मानने पर भी चतुर्थवृत्ति की कल्पना तो तात्पर्यवादियों को भी करनी पड़ेगी, अतः नाम मात्र में विवाद है बात एक ही जैसी है। चाहे उसे व्यंजना कहें अथवा तात्पर्यवृत्ति[1] किन्तु सच यह है कि तात्पर्यवृत्ति मानने पर लाघव है और चतुर्थवृत्ति की कल्पना का प्रश्न उत्थित नहीं हो सकता। क्योंकि तात्पर्यवृत्ति अन्वयांश रूप वाक्यार्थ का बोधन कराकर व्यंग्यार्थ रूप तात्पर्यार्थ का भी बोध करा सकेगी ही। इस सम्बन्ध में ध्वनिवादी अपनी यह दलील रख सकते हैं कि "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभावः" इस न्याय के अनुसार अन्वयांश बोधन में तात्पर्यशक्ति उपक्षीण हो जायगी पुनः व्यंग्यार्थ रूप तात्पर्यार्थ के बोधन में इसका अस्तित्व कैसे माना जा सकेगा। इसका समाधान यही होगा कि जहाँ पर एक ही साथ दो वृत्तियाँ मानी जाती हैं वहीं पर वे दोषावह होती हैं, क्रमिक मानने पर तो दोष की आशंका भी नहीं करनी चाहिये। "चित्रगुधनम्" इस प्रयोग में बहुव्रीहि समास की स्थिति में गोपद की लक्षणा चित्राभिन्नगोस्वामी में होती है, इसके बाद षष्ठीतत्पुरुष समास में उस स्वामी से सम्बन्धित में लक्षणा होती है।[2]

जो तात्पर्यवृत्ति अन्वयांश बोधिक है उसी से तात्पर्यार्थ रूप व्यंग्यार्थ की भी प्रतीति हो ही जायेगी पुनः तुरीय वृत्ति कल्पना का दोष उल्टे व्यंजनावादियों पर ही आपतित होता है। क्योंकि इन्हें अन्वयांश बोध के लिये तात्पर्यवृत्ति तो माननी ही पड़ती है, व्यंग्यार्थ बोध के सम्बन्ध में अतिरिक्त व्यंजनाव्यापार की भी सत्ता इन्हें स्वीकार करनी पड़ती है।

नागेशभट्ट के मत की समीक्षा

व्यंजनावादी नव्यव्याकरण के प्रसिद्ध आचार्य नागेश भट्ट की मान्यताओं की समीक्षा भी अप्रासंगिक न होगी। अखण्ड वाक्य स्फोट की परिकल्पना करने वाले

---

१. किमिति तत्परत्वं नाम, तदर्थत्वं वा तात्पर्यवृत्त्या तद्बोधकत्वं वा ? आद्ये न विवादः व्यंग्येऽपि तदर्थतानपायात्। द्वितीये तु केयं तात्पर्याख्या वृत्तिः अभिहितान्वयवादिभिरंगीकृता वा तदन्या वा। आद्ये दत्तमेवोत्तरम्, द्वितीये तु नाममात्रे विवादः। तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः।

—सा० द०, पं० प० पृ० २६९।

२. युगपद्वृत्तिद्वयविरोधोप्यत एव न दोषाय, दूषकताबीजाभावाच्च।

—वै० सि० सं०, ल० प्र०।

वैयाकरण सम्प्रदाय में, व्यंजनावृत्ति जो प्रकृति प्रत्यय निरर्थक पदादिक को भी अपना आश्रय बनाती है, के लिये स्थान ही कैसे मिल सकता है ? वाक्य में पदों का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है।[1] अस्तित्वविहीन पदादिक में व्यंजनावृत्ति की सत्ता सम्भव नहीं है। वृत्धातु से करण से क्तिन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न वृत्ति शब्द का भाव होगा—"अर्थे वर्तते शब्दोऽनया सम्बन्ध-शक्त्या"। जब प्रकृतिप्रत्ययादिक निरर्थक हैं तो उसका व्यंग्यार्थ से किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं हो सकता। फलतः इसमें व्यंजनावृत्ति पद-व्यवहार भी न हो सकेगा। रही व्यवहारदशा की बात, तो इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि किसी भी शास्त्र की वे ही मान्यताएँ व्यवहारदशा में भी होती हैं जिनका कि उसके निष्कर्षभूत सिद्धान्त से सामंजस्य स्थापित हो सके। व्यंजना-वृत्ति का अखण्डस्फोट, जो वैयाकरणों का चरम-सिद्धान्त है, से किसी भी प्रकार का मेल नहीं हो सकता। नागेश ने तो स्फोट की व्यंग्यता और निपातों की द्योतकता के आधार पर इसे अपने सम्प्रदाय के अनुकूल बताने का प्रयास किया है।[2] स्फोट ध्वनि से व्यंग्य अवश्य है किन्तु ध्वनि का स्फोट के साथ वृत्ति-सम्बन्ध तो नहीं है। वृत्ति-सम्बन्ध से रहित ध्वनि एवं स्फोट को दृष्टान्तरूप में रखना, दृष्टान्त एवं दृष्टान्तिक के वैषम्य को स्पष्ट करता है। रहा निपातों की द्योतकता का प्रश्न। वैदिक साहित्य में निपातों का प्रयोग स्वतन्त्र पद के रूप में हुआ है। अतः वेद में निपातों की वाचकता मानी गयी है। यास्क स्वयं निपातों की वाच-कता का ही पक्ष मानते हैं।[3] निपातों की भर्तृहरि भी स्वयं द्योतकता एवं वाच-कता के झमेले में न पड़कर मध्यममार्गी बन जाते हैं और दोनों पक्षों के विषय में अपनी सहमति दे देते हैं। ऐसी स्थिति में जब निपातों की द्योतकता ही संशयग्रस्त है तो इसके आधार पर व्यंजनावृत्ति का अनुमोदन करना असंगत प्रतीत होता है। इस स्थिति में नागेशभट्ट ने यदि तात्पर्यवृत्ति पर बल देकर अपनी सहमति प्रकट की होती तो महाभाष्यकार पतंजलि के सिद्धान्त के साथ इसकी एकवाक्यता मानी जाती।[4]

---

१. ब्राह्मणार्थो यथानास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः ॥ —वा० प०, २१४।

२. प० ल० मं०, व्यं० प्र०।

३. उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। —निरुक्त, प्र० अ०, द्वि० पा०।

४. स वाचको विशेषाणां सम्भवाद् द्योतकोऽपि वा। —वा० पदीय।

ध्वनिसिद्धान्त के समर्थक आनन्दवर्धन भी वक्तृइच्छा रूप तात्पर्य को सर्वथा तिरोहित करने में समर्थ हो न सके ।[१] काव्य-शब्दों का अर्थ कवि की विवक्षा के अनुसार ही होता है। कवि विवक्षित अर्थ की अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से करता है। शब्द उसकी तात्पर्याभिव्यक्ति के साधन स्वरूप है। तात्पर्यवादी भी तो तात्पर्यवृत्ति की व्याख्या इसी रूप में करता है। चित्रकाव्य एवं ध्वनिकाव्य के विषय में विमर्श करते हुए आनन्दवर्धन कविगत तात्पर्य की उपादेयता सिद्ध करते हैं। जब कवि का तात्पर्य रसादिविरहित होकर मात्र अलंकारादि-विषयक होता है तब तो चित्रकाव्य की स्थिति होती है किन्तु रसादिविषयक तात्पर्य होने पर काव्य में ध्वनि-काव्यता ही दृष्टिगोचर होती है।[२] इसी प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार के वाच्य के अविवक्षितत्व का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए इन्होंने "कस्त्वं भो कथयामि दैवहतकम् ... ..." इत्यादि पद्य में निर्धन मनस्वी के निर्वेदवचन को तात्पर्य द्वारा वाक्यार्थीकृत बताया है।[३] जब व्यंजना के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन को तात्पर्य की ऐसी अपेक्षा है तो औरों की बात ही क्या है?

रसादिरूप अर्थ की प्रतीति कराने में व्यंजना का असामर्थ्य

व्यंजना रस की प्रतीति करने में अपना सामर्थ्य सर्वथा स्थापित नहीं कर पाती। क्योंकि रत्यादि विषयक आत्मचैतन्यनिष्ठ मायिक आवरण भंग स्वीकार करने पर व्यंजना रस के नीचे ही रह जाती है।[४] साधारणीकरण व्यापार में भावना के साथ सहृदयता को ही कारण मानने पर व्यंजना के बिना भी रस-निष्पत्ति अबाधित रहती है। भावना-व्यापार तात्पर्यवादियों को मान्य है। भावना-व्यापार के द्वारा सहृदय रस को भावित करता है। अतः भाव्य-भावक-सम्बन्ध-मूलिका तात्पर्यवृत्ति का अस्तित्व रस-प्रतीति पर्यन्त रहता है।

---

१. विवक्षोपारुढ़ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः।

—ध्वन्या०, उ० तृ०, वृत्तिभाग।

२. रसभावादिविषय विवक्षाविरहे सति।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥ ध्वन्या०, तृ० उ०, वृत्तिभाग

३. कस्यचिन्मनस्विनः परिदेवितं तात्पर्येण वाक्यार्थीकृतमिति प्रतीयते।

ध्वन्या०, तृ० उ०, वृत्तिभाग।

४. रसगंगाधर, प्र० आ०, रसप्रक्रिया।

उपसंहार

इस प्रकार लाघव एवं उपयोगिता दोनों दृष्टियों से व्यंजना की अपेक्षा तात्पर्यवृत्ति की महत्ता सिद्ध हो जाती है। व्यंजना न तो व्याकरणशास्त्र में सिद्ध हो सकती है और न साहित्य में ही। व्यंग्यार्थरूप तात्पर्यार्थ की प्रतीति के लिये सर्वमान्य तात्पर्यवृत्ति को ही मानना साहित्यशास्त्रियों के भी पक्ष की बात होगी। तात्पर्य के बिना तो ध्वनिवादी समीक्षक भी अपने विवेच्य को समुचित रूप से प्रस्तुत नहीं कर सकते, जबकि तात्पर्यवादियों को व्यंजना की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं होता। जब अन्वयांश-बोध के लिये तात्पर्यवृत्ति का मानना आश्यक है तो उसी से तात्पर्यार्थ की भी प्रतीति स्वीकार कर लेनी चाहिए। ध्वनिवादियों की इस "अर्द्धजरतीय न्याय" की स्थिति का निष्पक्ष चिन्तकों को विरोध करना चाहिए और उसकी आवश्यकता पर बल देकर तात्पर्यवृत्ति का ही जीर्णोद्धार कर लेना चाहिए।

अष्टम अध्याय

तात्पर्य एवं व्यंजनावृत्तियों के व्यापारों की समीक्षा

तात्पर्य एवं व्यंजनावृत्तियों के स्रोत

काव्यशास्त्र के ध्वनिवादी आचार्य व्यंग्यार्थ-प्रतीति के लिए व्यंजना-व्यापार मानते हैं, इसी के समकक्ष तात्पर्यवादियों ने तात्पर्यवृत्ति की स्थापना की है। उभयपक्षीय समीक्षकों ने अपनी इन नूतन मान्यताओं को दर्शनान्तरीय सिद्धान्तों से सम्बन्धित बताने का प्रयास किया है। व्यंग्य-व्यंजक-भाव पर आधारित व्यंजना-व्यापार को यदि वैयाकरणों का समर्थन प्राप्त है, तो भाव्यभावकसम्बन्ध पर आश्रित तात्पर्यवृत्ति मीमांसकों के मत का अनुमोदन प्राप्त कर लेती है। आशय यह है कि ये वृत्तियाँ मूलतः इतरशास्त्रों में उपलब्ध थीं, उन्हीं का प्रयोग साहित्य-शास्त्र में रमणीयार्थ की प्रतीति के लिए करना औचित्यपूर्ण माना गया। तात्पर्य एवं व्यंजनावादी आचार्यों को निश्चय ही यह भय था कि कहीं इनके सिद्धान्तों को नूतन आविष्कार मानकर लोग उपेक्षणीय न समझ बैठें। इसलिए इन दोनों आचार्यों ने अपनी मान्यताओं को तत्कालीन प्रसिद्ध दर्शनशास्त्रों से जोड़ने का प्रयास किया।

वैयाकरणों के अनुसार ध्वनि एवं स्फोट में व्यंग्य-व्यंजक भाव माना गया है, ठीक इसी तरह व्यंजना भी व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्धमूलिका है। मीमांसकों ने यागादिक व्यापार एवं स्वर्गादिफल में भाव्यभावक सम्बन्ध माना है. तात्पर्य-वादियों ने इसी सम्बन्ध पर तात्पर्यवादियों को आधारित मान लिया। दूसरी दृष्टि से यदि व्यंजना संस्कार विशेषरूप हैं तो तात्पर्यशक्ति वक्तृविवक्षा रूप वाली है। वृत्तियों के ये दोनों रूप न्यायमत के अनुसार समवाय सम्बन्ध से आत्मा में तथा वेदान्त मत में तादात्म्य सम्बन्ध से अतःकरण वृत्ति हैं। दोनों को शब्दार्थ पर विषयतासम्बन्ध से आरोपित किया जाता है।

जिस प्रकार अभिधादिक अन्य शक्तियों का व्यापार समाप्त होने पर व्यंजना-व्यापार अर्थावबोध के लिये उपयोगी सिद्ध होता है।[१] उसी प्रकार तात्पर्यवृत्ति द्वारा बोध्य अर्थ भी अभिधा एवं लक्षणादिक अन्य वृत्तियों का विषय नहीं माना जा सकता। व्यंग्यार्थ की प्रतीति सहृदय मात्र को होती है, ठीक इसी तरह तात्पर्यार्थ भी सहृदयहृदयैकवेद्य हैं। व्यंजनाव्यापार व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने में प्रकरणादिक की अपेक्षा रखता है, अतः ये व्यंग्यार्थ-बोध में सहकारी हेतु माने जाते हैं।[२] वक्तृ बोद्धव्य इत्यादि सहकारी हेतुओं के अभाव में व्यंग्यार्थ की प्रतीति सम्भव नहीं हो सकती। तात्पर्यवृत्ति से भी तात्पर्यार्थ का अवगमन इन्हीं सहकारी हेतुओं के सहकार से सम्भव है।

मुख्यतः शाब्दी एवं आर्थी भेद से, व्यंजनावृत्ति दो प्रकार की मानी जाती है, तात्पर्यवृत्ति भी श्रोतृ तथा वक्तृ तात्पर्य भेद से दो विधाओं में विभक्त होती है। कहीं वक्तृगत तात्पर्य का आरोप शब्द में किया जाता है तो कहीं श्रोतृगत तात्पर्य का।

व्यंग्यार्थ एवं तात्पर्यार्थ

व्यंग्यार्थ अनवधिक होता है, यह आवश्यक नहीं है कि वाक्य में व्यंग्यार्थ-बोधक शब्द उपात्त ही हो। यही स्थिति तात्पर्यार्थ के भी बारे में है। तात्पर्यार्थ वाक्य में अनुपात्त शब्दों में भी हो सकता है। जिस प्रकार व्यंजनाव्यापार का पर्यवसान व्यंग्यार्थ-प्रतीति कराने के अनन्तर ही होता है, उसी प्रकार तात्पर्यवृत्ति भी यावत्कार्य प्रसारी होने से तात्पर्य-प्रतीति कराकर ही उपरतव्यापार होती है।

व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थपूर्विका होती है।[३] इसकी प्रतीति पदार्थ-ज्ञान पूर्वक होती है। इसके लिये तो अवान्तर तात्पर्य एवं महातात्पर्य ये दो प्रकार की श्रेणियाँ ही मीमांसकों ने निर्धारित कर रखीं हैं। महातात्पर्यार्थ अन्तिम अर्थ जिसमें वाक्यार्थ का पर्यवसान होता है माना जाता है। इसके पूर्व के सभी अर्थ अवान्तर तात्पर्य में ही समाविष्ट होते हैं। यही स्थिति व्यंजना व्यापार की भी है। यह दूसरी बात है कि कहीं व्यंग्यार्थ-बोध में वाच्यार्थ की पूर्व-प्रतीति का

---

१. सा० द०, २।१२-१३।

२. का० प्र०, ३।२१-२२।

३. ध्वन्या०, १।१०

भान न होता हो किन्तु यह तो सर्वसम्मत है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थपूर्वक ही होती है।

तात्पर्यवृत्ति की अभिधा एवं लक्षणा से भिन्नता

जिस प्रकार व्यंजनावादियों ने व्यंजनाव्यापार की सिद्धि हेतु अभिधा एवं लक्षणा मात्र को ही शब्दव्यापार मानने वाले शब्द-शास्त्रियों से विरोध प्रदर्शित करते हुए इसकी पृथक् वृत्तिता स्थापित की है, ठीक यही स्थिति तात्पर्यवादियों की भी है। तात्पर्यवृत्ति भी अभिधा एवं लक्षणा व्यापार में अन्तर्भूत नहीं की जा सकती[1] अतएव मात्र अभिधा एवं लक्षणा को ही शब्दशक्ति स्वीकार करने वाले आचार्यों का मत तात्पर्यवादियों को भी अभिमत नहीं हो सकता। "शब्दबुद्धिकर्मणाविरस्य व्यापाराभावः" इस न्याय को व्यंजनावादी जिस रूप में मानता है, तात्पर्यवादी को भी इसका वही स्वरूप मान्य है। इसीलिये तो क्षीणशक्तिक अभिधादि व्यापार तात्पर्यार्थ की प्रतीति के लिये समर्थ नहीं हो पाते, और इसके लिये तात्पर्यवृत्ति की सत्ता मानना आवश्यक हो जाता है।

तात्पर्य एवं व्यंजना दोनों ही वृत्तियों साक्षात्संकेतित अर्थ से अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति कराती है। जहाँ "गतोऽस्तमर्क" इत्यादि वाक्यों से प्रतीत होने वाला वाक्यार्थ सभी ज्ञाताओं के लिये एक समान ही होता है वहाँ तात्पर्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ नाना प्रकार का हो सकता है। व्यंजना एवं तात्पर्यवृत्तियों में भी वक्तृ एवं बोद्धव्य की भी सहकारिता मानी जाती है, अतएव इन सहकारियों के वैशिष्टच से इनके अर्थ में नानात्व का होना स्वाभाविक हो जाता है। भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में इस वाक्य का तात्पर्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ अनेक लक्ष्यों की ओर संकेत करता है। शब्दों की वाचकताशक्ति का सम्बन्ध मात्र प्रथम अर्थ से ही रहता है, जब कि तात्पर्य और व्यंजना का प्रथम अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ से। इसका आशय यह नहीं है कि व्यंग्यार्थ अथवा तात्पर्यार्थ, वाच्यार्थ की अपेक्षा ही नहीं रखते। इन्हें भी वाच्यार्थ की अपेक्षा रहती ही है। जिस प्रकार प्रदीप घट का ज्ञान कराता हुआ अपना भी ज्ञान कराता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ अथवा तात्पर्यार्थ की प्रतीति होती है। प्रदीप केवल घट का ज्ञान मात्र कराता है, उसे उत्पन्न नही करता, ठीक यही स्थिति वाच्यार्थ की भी है। दूसरी स्थिति यह भी है कि जैसे प्रदीप घट का ज्ञान कराता हुआ, अपना भी ज्ञान

---

१. दशरूपक, च० प्र०, अवलोकटीका।

कराता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ, तात्पर्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराता हुआ अपनी भी प्रतीति कराता है[1]। अतएव वाच्यार्थ को अनुपेक्षणीय बताया ही नहीं जा सकता। इतना अवश्य है कि व्यंग्यार्थ अथवा तात्पर्यार्थ को वाच्यार्थ रूप नहीं माना जा सकता।

तात्पर्य एवं व्यंजनावृत्तियों द्वारा बोध्य अर्थ लक्षणावृत्ति का भी विषय नहीं बन सकता। लक्षणावृत्ति की प्रवृत्ति मुख्यार्थ बोध होने पर, रूढि अथवा प्रयोजन-निमित्त को लेकर मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्यार्थ की प्रतीति कराने के लिये ही होती है[2], जबकि तात्पर्य और व्यंजना के लिये इन हेतुओं की कोई आवश्यकता ही नहीं होती।

तात्पर्यवृत्ति में प्रकरणादि की सहकारिता

जिस तात्पर्यवृत्ति तात्पर्यार्थबोध तात्पर्यज्ञान सापेक्ष कराती है। यदि तात्पर्यज्ञान की सहकारिता नहीं मानी जायेगी तो अनियत तात्पर्य का अनुगमन करना सम्भव नहीं हो सकेगा। व्यंजनावादी भी व्यंग्यार्थ बोध में प्रकरणादिक की सहकारिता मानते हैं[3] वस्तुस्थिति तो यह है कि वस्तुत: व्यंग्यार्थ बोध में सहकारिता मात्र तात्पर्य ज्ञान की ही है, प्रकरणादिक तो मात्र तात्पर्य के ही ग्राहक हैं। तात्पर्यज्ञान की सहकारिता दोनों वृत्तियों में समान रूप से आवश्यक सिद्ध होती है।

व्यंजना की ही भाँति तात्पर्यवृत्ति भी पद, पदैकदेश, प्रकृति, प्रत्ययादिक से भी तात्पर्यार्थ की प्रतीति कराती है। तात्पर्यज्ञान की सहकारिता मान लेने पर जिस प्रकार वाक्य का तात्पर्यार्थ सम्भव है, उसी प्रकार पदादिक का भी। व्यंजनावादी भी तो पदैकदेशादिक से व्यंग्यार्थ का बोध तात्पर्यज्ञान अथवा वक्तृबोद्धव्य इत्यादि की सहकारिता से ही तो करते हैं।[4] व्यंग्यार्थ की प्रतीति

---

१. तस्माद्घटप्रदीप न्यायस्तयो: यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीप प्रकाशो निवर्तते तद्वद् व्यंग्य प्रतीतो वाच्यावभासः।
—ध्वन्या०, तृ० उ०, वृत्तिभाग।

२. दशरूपक, च० प्र०, अवलोक टीका।

३. दशरूपक, च० प्र० अवलोक टीका।

४. का० प्र०, प्र० उ० उल्लास/सूत्रवृत्ति।

करने वाले व्यक्ति को सहृदय कहा जाता है, उसी प्रकार तात्पर्यार्थ का अवगमन भी सहृदय ही कर पाता है।

व्यंजना एवं तात्पर्यवृत्ति की तुल्यकार्यकारिता

व्यंग्यार्थ की भाँति तात्पर्यार्थ की काव्य में स्थिति स्वीकार कर लेने पर नित्यानित्य दोषों की व्यवस्था सम्भव हो पाती है। च्युतिसंस्कृतित्व आदि दोषों की नित्यता इसीलिये है कि ये तात्पर्यार्थ रूप चमत्कार की प्रतीति में सदैव व्याघात उपस्थित करते हैं। कष्टत्वादि दोषों की अनित्यता इसलिये है कि ये शृंगारादिक में प्रतिकूल होते हुए भी रौद्रादिक में अनुकूल होते हैं[1]। व्यंजनावादी एवं तात्पर्यवादी दोनों सम्प्रदायों के आचार्य पार्यन्तिक अर्थ जो रमणीयार्थ अथवा चमत्कार कारक, रस इत्यादि शब्दों से व्यपदिष्ट होता है, की प्रतीति में विघ्न उत्पन्न करने वाले तत्त्वों को ही तो दोष मानेंगे।

जिस प्रकार व्यंजनावादी रसादिरूप अर्थ का प्रत्यायन व्यंजनाव्यापार से मानते हैं, उसी प्रकार तात्पर्यवादी भी रसादि की प्रतीति तात्पर्यशक्ति से ही करते हैं। अभिधाशक्ति मात्र विभावादिक जो काव्य शब्द के वाच्यार्थ हैं का बोधन करके क्षीणशक्ति हो जाती है। विभावादिक के सम्बन्ध से प्रतीति होने वाले रसादिरूप अर्थ की प्रतिपत्ति अभिधा से अतिरिक्त वृत्ति द्वारा ही सम्भव है। रसादिरूप वाक्यार्थ का बोध लक्षणा से भी नहीं हो सकता, क्योंकि रसादि रूप अर्थ की प्रतीति मुख्यार्थ-बाध इत्यादि निरपेक्ष ही हो जाती है। ऐसी स्थिति में रसादि रूप अर्थ का अवबोधन अभिधा एवं लक्षणा से भिन्न किसी वृत्ति विशेष से ही माना जाना चाहिए। भले ही उसका नामकरण तात्पर्य हो अथवा व्यंजना।

तात्पर्यार्थ बोध हेतु अनुमान प्रमाण का असामर्थ्य

अनुमान प्रमाण से रमणीयार्थ की प्रतिपत्ति कराने वाले न्यायसिद्धान्तवादी महिमभट्ट का मत न तो तात्पर्यवादी मानता है और न तो व्यंजनावादी। न्याय-दर्शन में प्रमात्मक ज्ञान में ही प्रामाण्य का निश्चय होता है। व्यंजना अथवा तात्पर्यवृत्ति द्वारा बोध्य अर्थ में वक्तृ बोद्धव्य इत्यादि सहकारी हेतुओं के कारण अर्थ में अनिश्चितता की स्थिति रहती है। अतएव न्यायदर्शन, जो प्रमाणवादी है, किसी ऐसी वृत्ति को मान्यता नहीं प्रदान कर सकता जिससे बोध्य अर्थ में निश्चित का अभाव हो। अनुमान से प्रतीति होने वाले तत्त्व अनुमिति के विषय भले हों,

---

१. का० प्र०, पं० उ०, उल्लास। सूत्रवृत्ति।

किन्तु उन्हें वृत्तियों से बोध्य अर्थ की सीमा में नहीं रखा जा सकता। अनुमान प्रमाण असंदिग्ध अर्थ का प्रमात्मक ज्ञान भी कराने में भी समर्थ नहीं होता।[1] यदि अनुमान की शब्दवृत्तिता स्वीकार करके उससे व्यंग्यार्थ अथवा तात्पर्यार्थ का बोध कराना अनुमितिवादियों को अभिष्ट है तो इसमें कोई आपत्ति नहीं, है, क्योंकि व्यंजना अथवा तात्पर्यवादी आचार्यों का भी एक मात्र आग्रह अतिरिक्त-वृत्तिता के ही सम्बन्ध में है।[2]

काव्य क्षेत्र में अनुमान की अवतारणा भी ठीक नहीं है। अनुमान प्रमाण है, अत: इससे प्रमात्मक प्रतीति होती है। काव्यार्थ जिसमें अनिश्चितता की स्थिति रहती है, के लिए अनुमान का प्रयोग करना इसके प्रामाण्य का विघातक होगा। व्यंग्यार्थं अथवा तात्पर्यार्थ का बोध न कराने में इसके प्रमाणत्व अंश का उच्छेद करना होगा। जिस अनुमान का प्रयोग काव्यशास्त्र में किया जायेगा एक तो उसे शब्दशक्ति बताना होगा दूसरे उसे प्रमाणत्व से विरहित भी मानना पड़ेगा।[3] इस प्रकार काव्यशास्त्र के लिये अनुमान प्रमाण की अप्रयोजकता ही माननी चाहिए। अनुमिति का सम्बन्ध तर्क से है, और तर्क स्वभाविक रूप से कर्कश एवं नीरस होता है, इसे आनन्दप्रधान काव्यशास्त्र के लिये उपयोगी सिद्ध करना हृदयहीनता का ही परिचायक होगा।

मूकादिक के व्यवहार की शब्दजन्यता

तात्पर्य एवं व्यंजना दोनों वृत्तियाँ शब्दगत हैं। व्यंजना के सम्बन्ध में कतिपय समालोचकों का यह कथन कि मुकादिक का व्यवहार चेष्टागत होने से इसे चेष्टाश्रित भी माना जाना चाहिए, ठीक नहीं है। मूकादिक भी व्यवहार काल में जन्मान्तरीय शब्द का स्मरण करके तदनुसार भावाभिव्यक्ति में प्रवृत्ति होते हैं, अत: उनकी भी चेष्टाएँ शब्दाश्रित ही होती है। मूकादिक इन्द्रियदौर्बल्य के कारण

---

१. यत्नेनानुमितोऽप्यर्थ: कुशलैरनुमातृभि:। वा० प०, द्र० का०

२. नन्वेवमपियदि नाम स्यात् तत्किं नश्छिन्नम्। वाचकत्वगुणवृत्तिव्यतिरिक्तो व्यंजकत्व लक्षण: शब्दव्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्। तस्य चैवमपि न काचित्क्षति:। तद्धिव्यंजकत्वं लिंगत्वमस्तु अन्यद्वा।

—ध्वन्या०, तृ० उ०, वृत्तिभाग।

३. ध्वन्या०' तृ० उद्योत। कारिकावृत्ति।

ही शब्द का उच्चारण नहीं कर पाते हैं, शब्द प्रयोग से भावाभिव्यक्ति की स्वरूप-योग्यता तो उनमें होती ही है।

अभिनयादिक एवं कटाक्षादि से जिस अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति होती है, उसमें शब्दसम्बन्ध का अभाव होने से उसे शाब्दबोध ही नहीं माना जा सकता। ज्ञान मात्र में शब्द को अनुस्यूत मानकर, सभी ज्ञानों की शब्द प्रमाण जन्यता तो सिद्ध ही नहीं की जा सकती।[1] सभी ज्ञानों में शब्दानुवेध बताना, शब्द की व्यापकता मात्र की ओर संकेत करना है। मात्र चेष्टादिक से जहाँ भाव विशेष का आगमन होता हो, वहाँ उसे शब्द प्रमाण से अतिरिक्त अनुमानादिक ही विषय मानना संगत प्रतीत होता है। इस स्थिति में मम्मट का "अशब्दात्मकनेत्र विभागावलोकनादिगतत्वेन तस्यप्रसिद्धेः" कथन उदयुक्त नहीं जान पड़ता। यदि व्यंजना शब्दगत अथवा अर्थगत वृत्तिविशेष है तो इसकी चेष्टाश्रयता बन ही कैसे सकती है। जहाँ तक तात्पर्यवृत्ति का प्रश्न है, इसकी उक्त स्थल पर भी सत्ता सम्भव हो सकती है। तात्पर्य वक्तृविवक्षारूप ही तो है। व्यक्ति कहीं पर अपनी विवक्षा शब्दों द्वारा प्रकट करता है, और कहीं अभिनयादिक एवं चेष्टाओं के माध्यम से।

व्यंजना की अपेक्षा तात्पर्यवृत्ति की व्यापकता

(क) व्यंजना की अपेक्षा तात्पर्यवृत्ति का क्षेत्र अतिव्यापक है। व्यंजना मात्र व्यंग्यार्थ की ही प्रतीति कराने में अपनी उपादेयता सिद्ध करती है। तात्पर्य वाक्यार्थ के संसर्गांश से लेकर सभी वक्तृविवक्षित तत्त्वों को समुद्घाटित करके अपनी विस्तृत उपादेयता का प्रतिपादन करती है। स्थिति यह है कि व्यंजना की सत्ता केवल इने गिने स्थलों के लिए ही स्वीकार की गयी है किन्तु तात्पर्य की सत्ता संसर्गांश से लेकर परवर्ती सभी तत्त्वों की प्रतीति के लिये मानना आवश्यक हो जाता है।

(ख) व्यंजनावादी आचार्य भले ही व्यंग्यार्थ बोध हेतु व्यंजना की मान्यता प्रदान करें, किन्तु संसर्गांश की प्रतीति के लिये उन्हें भी तात्पर्यवृत्ति को मानना ही पड़ता है। तात्पर्य व्यंजना का नाम तक नहीं लेते, क्योंकि इनकी तात्पर्यवृत्ति

१. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते।

—वा० प०, द्र० का० १२३

इतनी सबल है कि इन्हें वृत्यन्तर की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं होता। अन्वयांश के लिये तात्पर्यवृत्ति मानना और व्यंग्यार्थ के प्रसंग में इसको अनुपयोगी सिद्ध करना "अर्द्धजरतीय" न्याय के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

(ग) जहाँ तक तात्पर्यवृत्ति के समर्थन का प्रश्न है, नव्य वैयाकरणों को छोड़कर सभी भारतीय शब्दशास्त्रियों ने इसे किसी न किसी रूप में निश्चय ही स्वीकार किया है। व्यंजना की मूलभित्ति स्फोटसिद्धान्तहै, जिसे वैयाकरणों को छोड़कर अन्य कोई भी दार्शनिक मान्यता तक नहीं प्रदान करता। वैयाकरण भी शब्द के केवल एक नित्यस्वरूप को ही मानते हैं। इनकी अनित्यता कंठताल्वादिसंयोगजन्य ध्वनिमात्र में है। जिसे ये अनित्य ध्वनि मानते हैं उसी में इतर-दार्शनिक शब्द का व्यवहार करके, उससे अथ की प्रतीति मानते हैं। इस प्रकार तात्पर्यवृति के समर्थक, व्यंजना समर्थकों की अपेक्षा पर्याप्त अधिक हैं।

(घ) व्यंजना जिस व्यंग्यव्यंजक भाव सम्बन्ध भित्ती पर आधाारित है, वह सम्बन्ध भी उपपन्न नहीं हो सकता। महिमभट्ट के अनुसार व्यंग्यव्यंजकता उन्हीं पदार्थों में रहती है जो एक साथ रहते, या जिनकी प्रतीति में क्रम नहीं रहता। वाच्यार्थ एवं प्रतीयमान की सर्वत्र क्रमिक प्रतीति होती है। अतः इनमें व्यंग्यव्यंजकभाव सम्बन्ध माना ही नहीं जा सकता"।[1] जहाँ व्यंग्यव्यजक भाव के खण्डन में आचार्यों की प्रवृत्ति लक्षित होती है, वहाँ व्यंजना की मान्यता के सम्बन्ध में प्रश्न ही नहीं उठता।

(च) तात्पर्यवृत्ति भाव्यभावक सम्बन्ध मूलिका है। यह सम्बन्ध मीमांसकों के भावनाव्यापार से समर्थित होने के साथ-साथ भरत द्वारा भी स्वीकार किया गया है। भरत रस की भाव्यता मानते हैं।[2] काव्य एवं रस में भाव्यभावक सम्बन्ध ही हो सकता है। भावकरसादिपद प्रयोग से ही काव्य में रस की भावना होती है। यदि भावक शब्दों का प्रयोग न किया जाय तो रस की भावना न हो

---

१. अतएव श्रूयमाणानां शब्दानां ध्वनि व्यपदेश्यानामन्तः सन्निवेशिनश्च स्फोटाभिमतस्यार्थस्य व्यग्यव्यंजकभावो न सम्भवतीति, व्यंजकत्वसाम्याद् यः शब्दार्थात्मनिकाव्येध्वनिव्यपदेशः सोऽप्यनुपपन्न। व्यक्ति० वि०, पृ०-६१

२. भावाभिनयसम्बन्धान्भावयन्तिरसानिमान।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥ नाट्य शा०, ६।३४

सकेगी। इस अन्वयव्यतिरेक से भी काव्य में भावनाव्यापार की सत्ता सिद्ध हो जाती है।[१]

(छ) रसप्रक्रिया के सम्बन्ध में भावनाव्यापार को प्रधान मानने वाली तात्पर्यवृत्ति उपादेय सिद्ध होती है, किन्तु व्यंजनाव्यापार रस के समीप तक पहुँच ही नहीं पाता। शब्दवृत्तिस्वरूप व्यंजना आत्मावरण का भग नहीं करा सकती। आवरणभंग में भावकता या भावनाव्यापार का ही महत्त्व ख्यापित किया जा सकता है व्यंजनाव्यापार रस रूपता को नहीं प्राप्त कर पाता। रसास्वाद की प्रक्रिया में इसकी अपेक्षा तात्पर्यवृत्ति का विशेष महत्त्व है।

(ज) रसप्रक्रिया के सम्बन्ध में तात्पर्यवादी भट्टनायक के भावना व्यापार से प्रभावित जान पड़ते हैं। रस सिद्धान्त में भट्टनायक का योगदान अविस्मरणीय है। इन्होंने उत्पत्तिवाद, अभिव्यक्तिवाद एवं प्रतीतिवाद की मान्यताओं को निर्मूल सिद्ध करते हुए रसस्वादप्रक्रिया एवं आस्वादक दोनों पर गम्भीर विचार किया है।[२] प्रस्तुत प्रसंग में मात्र उनके भावनाव्यापार पर ही विचार करना समीचीन होगा। भट्टनायक अभिधाव्यापार के द्वारा विभावादिक पदार्थों की उपस्थिति मानते हैं। विभावादिक की उपस्थिति हो जाने पर भावनाव्मापार के द्वारा उनका साधारणीकृत स्वरूप भासित होता है। साधारणीकृत विभावादिक का भोग व्यापार द्वारा भोग (अनुभूति) होना ही रस चर्वणा है।

(झ) व्यंजनावादी सभी आचार्य भट्टनायक की ही सरणि को किंचित्-परिष्कारों के साथ प्रस्तुत करते है। भावना एवं भोग व्यापारों को अप्रमाणित बताते हुए अपने व्यंजनाव्यापार की प्रमाणिकता सिद्ध करने में ही व्यंजनावदियों की मौलिक उद्भावना परिसमाप्त दीख पड़ती है।

(ट) व्यंजनावादियों का व्यंजनाव्यापार ही अप्रामाणिक है। न तो इस व्यापार की सिद्धि साहित्यशास्त्री किसी प्राचीन आचार्य के ग्रन्थ से ही होती है, और न तो दर्शनान्तर से ही। विशेष आश्चर्य की बात तो यह है कि व्यंजनावादी अपने व्यंजनाव्यापार, साधारणीकृतविभावादिक एवं रसचर्वणा को बार-बार अलौकिक शब्दों से अभिहित करते है। काव्य एवं नाटक से प्राप्त होने वाले आनन्द

---

१६. दशरूपक, च० प्र०, पृ० २५२

१. च० उल्लास/सूत्रवृत्ति (का० प्र०)।

में सहृदय की तन्मयता व्यंजनाव्यापार की महिमा से थोड़े होती है। वह तो कविविवक्षित अर्थ को निरन्तर भावना करता हुआ उससे रस की अनुभूति करने में समर्थ होता है। सहृदय की सहृदयता को विभावादिक से व्यंजित मानने की अपेक्षा भावित मानना संगत प्रतीत होता है।

(ठ) सहृदयता निरन्तर काव्यानुशीलन से उत्पन्न अन्तःकरण की विशदता से प्राप्त होती है। यदि व्यंजनाव्यापार मान लिया जाय तो सहृदयता स्वयं सिद्धवस्तु मानी जायेगी, इसकी प्रयत्नसाध्यता समाप्त हो जायेगी। व्यंजनाव्यापार अन्तःकरण में वासनारूप में स्थित संस्कारों को ही तो साधारणीकृत विभावादिक से व्यंजित करता है, वह नूतन संस्कारों की निर्मिति के बारे में सामर्थ्यहीन सिद्ध होता है। भावना व्यापार के द्वारा अन्तःकरण में काव्यभावना से नये संस्कार भी उत्पन्न होते रहते हैं। वैयाकरणों की ध्वनि नये शब्द को नहीं उत्पन्न करती अपितु नित्यस्फोटात्मा शब्द की अभिव्यक्ति मात्र करती है। दीपक नये घट को उत्पन्न नहीं कर सकता, सिद्ध घट की ही अभिव्यक्ति उसमें से होती है। व्यंजना मानने पर काव्यानुशीलन जन्य सहृदयता के लिये कोई स्थान ही न होगा।

(ड) व्यंजनावादी विभावादिक का साधारणीकरण तो मानते हैं किन्तु वे इसके लिये किसी व्यापार की परिकल्पना नहीं करते। अभिधाशक्ति का विराम तो विभावादिक की प्रतीति कराने में ही हो जायेगा पुनः विभावादिक का साधारणीकरण यदि व्यंजना से माना जाय तो उसी व्यंजना-व्यापार से रसनिष्पत्ति कैसे सिद्ध होगी क्योंकि विभावादिक के साधारणीकरण में ही व्यंजनाव्यापार क्षीणशक्तिक हो जायेगा। क्षीणशक्तिक व्यंजना व्यापार से पुनः रसनिष्पत्ति तक के कार्य का सम्पादन पता नहीं व्यंजनावादी कैसे कर करते हैं ?

(ढ) व्यंजनावादियों के अभिमत शब्दों एवं आर्थी व्यंजना के स्वरूपों पर भी विचार करना संगत होगा। लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना का प्रसिद्ध उदाहरण "गंगायां घोषः" है। यहाँ शैत्यपावनत्वरूप प्रयोजन की प्रतिपत्ति के लिये गंगा पद की लक्षणा गंगातीर में की जाती है।[1] यहाँ मुख्यार्थ बाध को दूर करने के लिये यदि घोष पद की लक्षणा शैवालादिक में कर दी जाय तो किसी भी प्रकार की असंगति नहीं आती किन्तु इससे वक्तृविवक्षित प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो

१. का० प्र०, द्वि० उ०, वृत्तिभाग।

पाती है, अतः गंगा पद की ही लक्षणा गंगा तीर में की जाती है। घोष एवं गंगा पदों की लक्षणा में एक मात्र विनिगमक वक्तृविवक्षारूप तात्पर्य है। व्यंजनावादी यहाँ तात्पर्यवृत्ति को तो नहीं मानते, किन्तु तात्पर्यानुपपत्ति रूप एक पृथक् हेतु की सत्ता स्थापित करते हैं। इस प्रकार उक्त स्थल में इन्हें व्यंजनाव्यापार के साथ एक अतिरिक्त हेतु मानना पड़ता है, जब कि तात्पर्यवादी वक्तृविवक्षारूप तात्पर्यवृत्ति से ही शैत्य पावनत्व रूप अर्थ की प्रतीति कर लेते हैं। व्यंजनावादी गुरुभूत मार्ग का अनुसरण करते हैं। उक्त स्थल में तात्पर्यवृत्ति को मानना समीचीन जान पड़ता है।

(त) अभिधामूला शाब्दी व्यंजना वहाँ होती है, जहाँ कि संयोग, विप्रयोगादिक[3] अभिधा नियामकों द्वारा अभिधाशक्ति का नियमन हो जाने पर भी द्वितीयार्थ की प्रतीति होती हो। व्यंजनावादियों के अनुसार द्वितीयार्थ के बोधन के लिये व्यंजनाव्यापार प्रवृत्त होता है।[4] इसका उदाहरण मम्मट ने 'भद्रात्मनो दुरधिगेहतनोर्विशाल वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य। यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुकसंकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥'' पद्य दिया है। यहाँ कवि का वर्णन विषयभूत अर्थ राजपक्षीय अर्थ है। अभिधा प्राकरणिक राजपक्षीय अर्थ की प्रतीति कराती है, अनन्तर गजपक्षीय अर्थ का बोध व्यंजनाव्यापार द्वारा होता है, ऐसा वह मानते हैं। क्योंकि अभिधा प्रथम अर्थ में प्रकरणादिक से नियन्त्रित होने के कारण पुनः द्वितीय अर्थ के बोधन में अपना सामर्थ्य नहीं स्थापित कर पाती। इस शब्दशक्तिमूलक व्यंग्यार्थ के सम्बन्ध में अनेक मत प्राप्त होते हैं, जिनकी विवेचना इस प्रसंग में अप्रासंगिक ही होगी।

(थ) इस सम्बन्ध में तात्पर्यवादियों की ओर से यह कहा जा सकता है कि व्यंजनावादियों ने उक्त स्थल पर अपने सिद्धान्त के विपरीत तथ्य प्रकट किये हैं। मम्मट जहाँ श्लेष के प्रसंग में ''अर्थभेदन शब्दभेद'' इस नियम को मानते हैं, वहाँ शाब्दीव्यंजना के सम्बन्ध में उनकी शब्द की अनेकार्थता मानना कहाँ तक उचित है। ''सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति'' इस न्याय के अनुसार उच्चरित शब्द एक ही अर्थ की प्रतीति करा सकता है।

---

३. वाक्यपदीय, का० प्र०, द्वि० उ० में उद्धृत।

४. का० प्र०, २।१९।

द्वितीयार्थ बोधन के लिए पुनः उसका उच्चारण होना चाहिए। अतः मम्मटोक्त उक्त उदाहरण में गजपक्षीय अपरार्थ की प्रतीति के लिए पुनः शब्दोच्चारण की स्थिति माननी ही न्याय संगत होगी। जब पुनः शब्दोच्चारण की स्थिति माननी ही है, तो द्वितीय अर्थ भी अभिधा के ही क्षेत्र में अन्तर्भूत होगा। गजपक्षीय अर्थ भी संकेतसापेक्ष ही है। जिसे संकेतग्रह न होगा, उसे गजपक्षीय अर्थ की प्रतीति भी कैसे हो सकेगी? इतना आवश्यक है कि कविविवक्षित राजपक्षीय अर्थ होने से पार्यन्तिक अर्थ वही माना जायेगा।

किन्तु तात्पर्यवृत्ति को मान लेने पर यहाँ किसी भी प्रकार के संशय की स्थिति नहीं रहती। कविविवक्षित अर्थ की प्रतीति प्रकरणादि सापेक्ष तात्पर्यवृत्ति द्वारा हो जायेगी। नानार्थक शब्दस्थलों में इसी पद्धति का प्रयोग करना सिद्धान्त संगत होगा।

इस स्थिति में अभिधामूलाशाब्दी व्यंजना का महल ध्वस्त दिखाई पड़ता है। व्यंजनावादी आचार्य भी इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं।[१] नानार्थकस्थलों में प्रकरणादिसापेक्ष प्रथम अर्थ की प्रतीति तात्पर्यशक्ति से होती है, तथा द्वितीय अर्थ अभिधावृत्ति का विषय बनता है, यह मानना ही उचित जान पड़ता है। जहाँ तक प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक अर्थों में उपमादिक की प्रतिती का प्रश्न है, यदि वह कवि विवक्षित है, उसे भी तात्पर्यवृत्ति का ही विषय मानना ठीक होगा।

(द) वक्ता एवं बोद्धव्य इत्यादि के वैशिष्ट्य से जब प्रतिभाशाली सहृदय जन वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति करते हैं तो वहाँ आर्थी व्यंजना का विषय माना जाता है। वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त अर्थ को प्रतीति व्यंजनाव्यापार से होती है।[२] किन्तु वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की व्यंजनाव्यापार की अपेक्षा तात्पर्यवृत्ति से मानना अधिक उचित है। व्यंजनावादी वक्तृ, बोद्धव्य इत्यादि के वैशिष्ट्य की सहकारिता स्वीकार करनी करता है। ये स्वरूपतः तो सहकारी कारण माने नहीं

---

१. तस्मान्नानार्थस्याप्राकरणिकेर्थे व्यंजनेति प्राचां सिद्धान्तः शिथिल एवं प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरर्थयो रुपमायां तु सा कदाचित्स्यादपीत्यस्माकं प्रतिभाति। —रसगंगाधर, द्वि० आ०।

२. योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा। —का० प्र०; २।२२।

जा सकते। वक्तृ इत्यादि की तात्पर्य की ही सहकारी हेतुता स्वीकार करनी पड़ेगी। जब वक्तृ इत्यादि की तात्पर्य हेतुता व्यंग्यार्थबोध में मान्य है तो वक्तृ अभिप्रायबोधक तात्पर्यवृत्ति को न मानना तर्कसंगत नहीं होगा।

(ध) काव्य में रमणीयार्थ की प्रतीति के लिए वक्तृ तात्पर्य की कारणता माननी आवश्यक है। "श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसके प्रलोकय। मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोर्निमंक्ष्यसि" इस पद्य से प्रतीत होने वाला "यथेच्छ मेरी शय्या में शयन करना" रूप व्यंग्यार्थ तात्पर्यार्थ ही तो है। वक्तृनायिका के तात्पर्यार्थ को ही यदि व्यंग्यार्थ यह नया नाम देना हो, और उसकी प्रतीति के लिए व्यंजना नामक एक पृथक् व्यापार को कल्पना करना हो तो यह दूसरी बात है।

(प) सहृदय कवि विवक्षित अर्थ के विषय में ही प्रवृत्त होते हैं। कवि के प्रतिपाद्य का ज्ञान करके, उससे तन्मयता स्थापित कर लेना ही सहृदयता है। कवि विवक्षित अर्थ का परिज्ञान तात्पर्यशक्ति से ही हो सकता है, क्योंकि इसका स्वरूप ही विवक्षा घटित है। पौरुषेय वाक्यों को वक्तृविवक्षा के अधीन मानना उचित है।[1] व्यंग्य व्यंजक सम्बन्ध पर स्थित व्यंजनावृत्ति का सामर्थ्य कविविवक्षा के प्रकटीकरण तक यदि मान भी लिया जाय तो इसका स्वरूप उतना स्पष्ट नहीं है जितना स्पष्ट तात्पर्यवृत्ति का। लोक में भी गूढ़ आशय को तात्पर्यार्थ पद से अभिहित किया जाता है, व्यंग्यार्थ पद से नहीं।

(फ) तात्पर्यवृत्ति एवं व्यंजना की उपादेयता का मूल्यांकन अन्वयव्यतिरेक के आधार पर भी करना उचित होगा। काव्य में चमत्कार की अनुभूति मात्र व्यंग्यार्थ से ही नहीं होती। कभी-कभी कवियों का अभिनिवेश मात्र अलंकार में ही दिखाई पड़ता है। जहाँ काव्यगत चमत्काराधान मात्र अलंकार वैचित्र्य से होता है, वहाँ व्यंजना के लिये कोई स्थान ही नहीं है। तात्पर्यवृत्ति का क्षेत्र विस्तृत होने के फलस्वरूप, एवं वक्तृगत अभिप्राय विशेष की बोधिका होने के कारण अलंकारिक चमत्कार बोध के लिए भी इसकी उपयोगिता सिद्ध हो सकती है।

(ब) चमत्कार प्रतीति के लिए व्यंजना व्यापार को ही एक मात्र मान्यता प्रदान करने का तात्पर्य अलंकार प्रस्थान की उपेक्षा करना होगा। वासना वैचित्र्य के कारण अनुभूति करने वाले आचार्यों को सहृदय की सीमा से बहिर्भूत

---

१. पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता। —दशरूपक, च० प्र० अवलोकभाग।

भी नहीं किया जा सकता। यह तो दूसरी बात है कि अलंकारजन्य चमत्कार की रसादि की अपेक्षा हीन कोटिक स्थिति है किन्तु उससे प्रतीत होने वाले चमत्कार की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती।

(भ) व्यवहार में तात्पर्यवृत्ति प्रतिपद काम में आती है, जबकि व्यंजनावृत्ति की व्यवहार जगत् में कोई उपयोगिता ही नहीं मानी जाती। लोक व्यवहार तात्पर्यावगमन के साथ प्रवृत्त होता है, इसमें व्यंग्यार्थ नामक वस्तु की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी जाती।

उपसंहार

वैयाकरणों के जिस स्फोट सिद्धान्त पर व्यंजना व्यापार टिका हुआ है वह स्फोटतत्त्व ही विवादास्पद है। इस प्रकार व्यंजना की सिद्धि न लोक से होती है और न शास्त्र से ही।



नवम अध्याय

गवेषणाप्रसूत निष्कर्ष

तात्पर्य एवं व्यंजना में अभेद

व्यंजनावादी जिस प्रयोजन की प्रतीति के लिये व्यंजनाव्यापार मानते हैं, तात्पर्यवादी उसी का बोध तात्पर्यवृत्ति से करते हैं। दोनों समीक्षकों का उपाय भिन्न होने पर भी उपेय एक ही है। काव्यतत्त्व का दर्शन जिस अवस्था में होता है, वह मन की एक स्थिति विशेष है। ये वृत्तियाँ मन को उस अवस्था विशेष की ओर उन्मुख करती हैं, जिसे साहित्यशास्त्र में काव्यानन्द की प्रयोजिका माना गया है। आनन्दानुभूति में विषमता न होने पर भी उसके उपायों में विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उपायों की विभिन्नता स्वाभाविक भी है। भारतीय विभिन्न चिन्तन धाराओं में साधन भेद होने पर भी साध्य के सम्बन्ध में ऐकात्म्यक के दर्शन होते हैं। उपेय की प्राप्ति के लिये उपाय अव्यवस्थित होते हैं[1]।

काव्यशास्त्रीय समीक्षा में व्यंजनावादियों ने जिस व्यंजनाव्यापार का आविष्कार किया, वह तात्पर्यवृत्ति से भिन्न न थी। संसर्गावबोध के लिये जिसे वाक्यशास्त्रियों ने मान्यता दी थी, उसी का रञ्जक स्वरूप साहित्यशास्त्र में रमणीयार्थ की प्रतीति के लिये प्रयुक्त किया गया।

इस प्रकार व्यजनावृत्ति एवं तात्पर्यवृत्ति का क्षेत्र एक मात्र साहित्यशास्त्र है। दो विभिन्न दार्शनिक धाराओं से सम्बद्ध होती हुई ये वृत्तियाँ काव्य के आह्लादक एवं सारभूततत्त्व की प्रतीति कराने के लिये ही अपना अस्तित्व स्थापित करती हैं।

इन दोनों वृत्तियों के अभिधान में भेद होने पर भी प्रयोजनगत ऐक्य है। यही कारण है कि विश्वनाथ तात्पर्यवृत्ति एवं व्यंजनाव्यापार में किसी अन्य पार्थक्य को न बताते हुए केवल नाम मात्र की भिन्नता प्रदर्शित करते हैं[2]।

---

१. उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः।

—वै० भूषणसार, स्फो० नि०, का० ६९

२. द्वितीये तु नाममात्रे विवादः, तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः।

—सा० द०, पं० प०

व्यंजना एवं तात्पर्य शक्ति में ऐक्य

व्यंग्यार्थ तात्पर्यार्थ से भिन्न नहीं है, और न तो व्यंजनावृत्ति ही तात्पर्यवृत्ति से भिन्न है[1]। संसर्गात्मक वाक्यार्थ बोधिका तात्पर्यशक्ति विभावादि प्रतिपादन के साथ रस की प्रतीति कराती है[2]। व्यंजनावृत्ति की उपयोगिता भी रसादि रूप अर्थ की प्रतीति कराने में ही है। अतः ये दोनों वृत्तियाँ परस्पर नाम भेद से भिन्न होती हुई भी कार्य की एकता की दृष्टि से एक ही हैं।

श्रोता की संकेतित अर्थ से भिन्न अर्थ में वक्तृविवक्षा के कारण प्रवृत्ति

व्यंजनाव्यापार को ध्वनितत्त्व की अनुभूति में माध्यम बताकर व्यंजनावादी इसकी स्वीकृति आवश्यक मानते हैं। इस सम्बन्ध में तात्पर्यवादियों का यह मत है कि अभिधाशक्ति से प्रतीत होने वाले संकेतित अर्थ से अतिरिक्त अर्थ की ओर श्रोता वक्तृ विवक्षा के कारण ही उन्मुख होता है। वक्तृ तात्पर्य के अवगमन के लिये ही महाकवियों की रचनाओं की पुनः पुनः पर्यालोचना अपेक्षित होती है। वक्ता भी अपने तात्पर्य को स्फुट करने के लिये वाक्य प्रयोग के साथ-साथ विविध भंगिमाओं का आश्रय लेता रहता है। इस स्थिति में व्यंग्यार्थ के बोध में यदि सर्वत्र वक्तृतात्पर्यज्ञान की नियमतः कारणता मानी जायेगी तो व्यंजना की अपेक्षा तात्पर्यवृत्ति को ही मान लेना श्रेयस्कर होगा।

लक्षणा में तात्पर्यानुपपत्ति की हेतुता

लक्षणा स्थल में तात्पर्यानुपपत्ति की कारणता सिद्धान्ततः मान्य है। तात्पर्यानुपपत्ति भी तात्पर्यवृत्ति की परिधि में ही अन्तर्भूत हो जाती है। तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा में कारण न मानकर यदि अन्वयानुपपत्ति की ही हेतुता मानी जाय तो "गंगायां घोषः" इस स्थल में घोष पद की मकरादि में ही लक्षणा करके अन्वय की अनुपपत्ति परिहृत हो सकती है।[3] फलतः शैत्य पावनत्व रूप जिस प्रयोजन के लिये इस लाक्षणिक पद का प्रयोग किया गया है, सिद्ध न हो सकेगा। अतः

---

१. तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यंजनीयस्य न ध्वनिः। —दशरूपक, च० प०, अव०

२. दशरूपक, अव०, च० प०।

३. वस्तुनः तात्पर्यानुपपत्तिरेव तद्बीजम्। अन्यथा गंगायां घोषः इत्यादौ घोषादिपद एव मकरादि लक्षणापत्तिः, तावताप्यन्वयानुपपत्ति परिहारात्।
—वै० ल० मं०, लक्षणा निरूपण।

लक्षणा के प्रसंग में तात्पर्यानुपपत्ति को ही सैद्धान्तिक रूप से हेतु मानने वाले व्यंजनावादी वैयाकरणों के प्रति अपार श्रद्धाभाव के कारण ही व्यंग्यार्थ बोध के लिये तात्पर्यवृत्ति के स्थान पर व्यंजनाव्यापार की सिद्धि में प्रवृत्त होते हैं।

"सुरभि मांसं भवान् भुंक्ते" इस वाक्य में गोमांसभक्षणरूप द्वितीयार्थ की प्रतीति के लिये वक्त्रभिप्रायबोधक तात्पर्यवृत्ति का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। यदि इस वाक्य का प्रयोग किसी मजाकिया किस्म के व्यक्ति द्वारा किया जायेगा, तभी द्वितीयार्थ का बोध हो सकेगा।

व्यंजनाशक्ति के आविष्कार पर प्रश्नवाचक चिह्न

"कस्य वा न भवति रोषो, दृष्ट्वाप्रियायाः सव्रणमधरम्। सभ्रमरपद्माघ्रायिणि, वारितवामे सहस्वेदानीम्" इस पद्य में व्यजनावादी विषयभेद से व्यंग्यार्थ के नानात्व की उपपत्ति करते हैं। व्यंग्यार्थ के विषय वक्तृ एवं श्रोतृ वर्ग ही हो सकते है। अतः श्रोतृ एवं वक्तृ रूप विषय भेद से व्यंग्यार्थ की अनेकता सिद्ध होती है। व्यंग्यार्थ के नानात्व में कारणीभूत श्रोता एवं वक्ता को स्वरूपतः कारण न मानकर उनके तात्पर्य की ही हेतुता माननी होगी। इस स्थिति में व्यंजनावादियों की व्यंग्यार्थ के नानात्व का अवधारण तात्पर्य वृत्ति के बल पर ही सम्भव हो सकेगा। इसी प्रकार "गतोऽस्तमकः" इस वाक्य से प्रतीत होने वाले व्यंग्यार्थ की नानारूपता तभी अवभासित हो सकेगी जबकि वक्तृ एवं श्रोतृ के तात्पर्य का अवगमन कर लिया गया हो। एक ही वक्ता द्वारा समुच्चरित यह वाक्य श्रोताओं के भेद से वक्तृ तात्पर्य की अनेक शाखाओं में विभक्त कर देता है। तात्पर्यवृत्ति के बल पर ही तात्पर्यार्थ रूप व्यंग्यार्थ आनन्त्य की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य वृत्ति विरहित व्यंजनाव्यापार व्यंग्यार्थ की अनेकता की प्रतीति नहीं करा सकता, जबकि तात्पर्यवृत्ति के लिए व्यंजनाव्यापार की कोई अपेक्षा ही नहीं हो सकती।

व्यंग्यार्थ के बोध के प्रति व्यंजना वृत्ति की हेतुता स्वरूपतः मानी गयी है। यदि व्यंजना को वृत्ति पद से व्यपदिष्ट किया जायेगा, तो वह स्वरपसती व्यंग्यार्थ के बोध में हेतु न बन सकेगी। व्यंग्यार्थ भी तो शाब्दबोध ही है। शाब्दबोध के प्रति वृत्तिज्ञान की कारणता मानी गयी है।[1] जब व्यंजनावृत्ति स्वरूपतः कारण है तो उससे बोध्य अर्थ शाब्दजज्ञान माना ही नहीं जा सकता। अतः न तो व्यंजनावृत्ति है और न तो इससे बोध्य अर्थ शाब्दज ही।

१. वै० सि० ल० मं०, शक्ति नि०।

तात्पर्यवृत्ति की स्थिति इससे सर्वथा विपरीत है। तात्पर्यवृत्ति से बोधित होने वाले तात्पर्यार्थ के लिये वक्त्रभिप्राय रूप तात्पर्य ज्ञान की कारणता निश्चित की गयी है। तात्पर्य स्वरूपतः कारण नहीं है, अपितु तात्पर्यज्ञान की कारणता है। इस प्रकार तात्पर्यवृत्ति के लिये वृत्तिपदव्यवहार उपपन्न हो जाता है।

व्यंजनावृत्ति की अनिवार्यता का पर्दाफाश (मोहभंग)

व्यंजनावृत्ति जिस व्यंग्यव्यंजकभाव सम्बन्ध पर टिकी हुई है, वह सम्बन्ध भी निराधार एवं अप्रामाणिक है। जिस प्रकार वाच्यवाचक भाव इत्यादि की सम्बन्धता पर भर्तृहरि इत्यादि शब्दशास्त्रियों ने प्रकाश डाला है वैसा उक्त सम्बन्ध पर किसी भी प्राचीनग्रन्थ में उल्लेख तक नहीं मिलता। वैयाकरणों ने ध्वनि एवं स्फोट में व्यंग्यव्यंजक भाव की चर्चा की है किन्तु वहाँ भी इसकी सम्बन्धता नहीं है। नित्य स्फोट एवं ध्वनि में यदि इसे सम्बन्ध के रूप में मान लिया जाय तो इसकी उभयवृत्तिता तो हो ही नहीं सकती। स्फोट नित्य है तथा ध्वनि अनित्य। नित्य एवं अनित्य पदार्थ किसी एक सम्बन्ध से सम्बन्धित नहीं हो सकते। यदि इन दोनों में एक ही सम्बन्ध विशेष की सत्ता मान ली जाय तो नित्यानित्य की व्यवस्था न बन सकेगी। अतः वैयाकरण सम्प्रदाय में भी व्यंग्य-व्यंजकभाव सम्बन्ध उपपन्न ही नहीं हो पाता। जब सम्बन्ध की स्थिति ही निराधार है तो उस पर आधारित व्यंजनावृत्ति स्व तएव अप्रामाणिक सिद्ध हो जाती है।

वैयाकरण ध्वनि एवं स्फोट में यदि व्यंग्यव्यंजक सम्बन्ध मान भी लें तो भी इसमें और आनन्दवर्धन की ध्वनिकल्पना में पर्याप्त मौलिक भेद भी समुद्भूत हो जाता है। वैयाकरणों ने ध्वनिशब्द का प्रयोग वैखरी वाणी के लिये किया था, जिसमें वाच्यता या अर्थसमर्पकता का लेश मात्र भी नहीं है। इन्होंने अभिधाशक्ति की सत्ता स्फोटात्मक नित्यशब्द में मानी थी। व्याकरणशास्त्र के अनुसार व्यंजकता अभिधा पूर्व व्यापार है। शब्दशास्त्र में व्यंग्य एवं व्यंजक शब्द ही हैं। आनन्द-वर्धन के अनुसार व्यंग्य मात्र अर्थ ही होता है। व्याकरणशास्त्रीय व्यंग्यव्यंजकभाव को इतने परिवर्तन के साथ अपने शास्त्र में स्थापना करने के बाद भी इसे व्याकरणसम्मत कहना हास्यास्पद सा प्रतीत होता है।

आनन्दवर्धन ने जिस व्यंजनाव्यापार की गवेषणा की, उसे किसी भी दार्शनिक ने स्वीकार नहीं किया। व्यंजकत्व व्यापार की जो कल्पना व्याकरणशास्त्र में मिलती है वह व्यंजनावादियों के व्यंजकत्व व्यापार से साम्य नहीं स्थापित कर

पाती। मीमांसकों एवं तार्किकों ने तो इसका खुलकर विरोध किया। इन दार्शनिकों के सामने सबसे बड़ी समस्या यह थी कि व्यंजकत्व व्यापार अनिश्चित अर्थ का बोध कराता है। किसी भी प्रमाण से होने वाली प्रमा अवधारणात्मिका होती है। व्यंजकत्व व्यापार निश्चित अर्थ की प्रमा नहीं करा सकता।[१] अतः न तो व्यंजकत्व व्यापार की प्रमाणता सिद्ध होती है, और न तो इससे बोध्यअर्थ प्रमात्मक ही हो पाता है। इस स्थिति में प्रमाणवादी इन दार्शनिकों की मान्यताओं से व्यंजना-व्यापार का कोई मेल नहीं स्थापित हो पाता। फलतः इसकी स्वीकृति के लिये किसी भी दार्शनिक की सहमति नहीं मिल पाती।

तात्पर्यवृत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार की स्थिति की सम्भावना भी नहीं की जा सकती। वक्तृ एवं श्रोतृ तात्पर्य से नियन्त्रित यह वृत्ति अभिधावृत्ति बोध्य अर्थ से व्यतिरिक्त अर्थ की प्रतीति कराती हुई भी निश्चित अर्थ का बोध कराती है। तात्पर्यज्ञान की उपादेयता अनेकार्थ "सैन्धवमानय" इत्यादि स्थलों में नैयायिकों द्वारा स्वीकार ही की गयी है। वक्ता की इच्छा को ही तात्पर्य बताकर न्यायदर्शनविदों ने तात्पर्यवृत्ति के समर्थन में अपनी पूर्ण सहमति अभिव्यक्त कर दी है।[२] "द्वारम्" इस पद मात्र का प्रयोग करने पर निराकांक्ष बोध नहीं होता, अतः एतदर्थ "पिधेहि" इस पद का अध्याहार करना आवश्यक हो जाता है।[३] पदाध्याहार तात्पर्यज्ञान की सत्ता मानने पर ही सम्भव है। इस दृष्टि से भी न्यायदर्शन का समर्थन तात्पर्यवृत्ति को प्राप्त हो जाता है।

अभिहितान्वयवादी मीमांसकों की तो यह वृत्ति देन ही मानी जाती है। अतः उनके समर्थन के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के सन्देह का प्रश्न ही नहीं उत्थित होता।

तात्पर्यवृत्ति को प्रायः सभी प्रमुख शब्दविचारक दार्शनिकों का समर्थन प्राप्त है। व्यंजनावृत्ति का पक्षधर कोई भी दर्शन नहीं हो सकता। पदपदार्थोदिक को असत्य मानने वाले वैयाकरण पदादि आश्रित व्यंजना को मान भी कैसे सकते हैं?

---

१. बुधैः वैयाकरणैः—ध्वन्या० १।१३ वृत्ति।

२. वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम्।

—न्या० सि० मु०, श० खं०, का ८४।

३ न्या० सि० मु०, शब्द खण्ड का० ८४।

वाक्यार्थ को प्रतिभा मात्र[1] का विषय मानने वाले नागेशभट्ट के अनुसार व्यंजनावृत्ति की अपेक्षा तात्पर्यवृत्ति की अधिक उपादेयता होगी। प्रतिभा अन्तः-करण की वृत्ति विशेष है। वाक्यार्थ की विषयभूता प्रतिभा है। अतः आरोपित व्यवहार से वाक्यार्थ के लिये भी प्रतिभा वाक्यार्थ, यह कथन उपपन्न हो जाता है। तात्पर्य भी वक्तृअभिप्राय विशेष होने से अन्तःकरण का धर्म है किन्तु तात्पर्यविषयीभूत वाक्यार्थ में इसका आरोपित व्यवहार किया जाता है। अतएव वाक्यार्थ के लिए तात्पर्यार्थ पद व्यवहृत होता है। इस दृष्टि से तात्पर्यवादियों एवं वैयाकरणों में सैद्धान्तिक साम्य स्पष्ट हो जाता है।

भर्तृहरि के अनुसार अर्थबोधन के लिये मात्र प्रकृति अथवा प्रत्यय का प्रयोग वर्जित है केवल प्रकृति अथवा प्रत्यय अर्थबोध के लिये सामर्थ्यहीन होते हैं।[2] व्यंजनावादियों के अनुसार व्यंजनावृत्ति प्रकृति प्रत्ययगत भी होती है। यहाँ तक कि वर्णादिक भी व्यंग्यार्थ के प्रत्यायक होते हैं। जब मात्र प्रकृति अथवा प्रत्यय सामान्य रूप से अर्थबोध के लिये उपयोगी नहीं है तो व्यंग्यार्थरूप अर्थ विशेष की प्रतीति के लिये इन्हें कैसे उपादेय माना जा सकता है ?

व्यंजनावादी भले ही वैयाकरणों को अपना समर्थक मानें किन्तु व्यंजनावृत्ति व्याकरणशास्त्र से सिद्ध नहीं होती। अखण्ड वाक्यस्फोटवादी वैयाकरण जब लक्षणा को भी पृथक् वृत्ति के रूप में नहीं मानते तो भला वे व्यंजना को स्व-सिद्धान्त समस्त कैसे बता सकते हैं ?

व्यंजना के आविष्कारक आचार्य आनन्दवर्धन ने कश्मीर के तत्कालीन विद्वत्समाज में व्याकरणशास्त्र की प्रतिष्ठा को देखते हुए अपने नूतन सिद्धान्त को वैयाकरणों के स्फोटवाद से जोड़ दिया। फलतः उत्तरवर्ती सभी व्यंजनावादी आचार्य वैयाकरणों का आधमर्ण्य स्वीकार करने लगे। कश्मीर की परम्परा से ही सम्बद्ध नागेशभट्ट ने भी आँख मूँदकर व्यंजनावृत्ति का समर्थन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण काव्यशास्त्र पर व्यंजना का आधिपत्य सा छा

---

१. वै० सि० मं०, स्फोट निरूपण।

२. धात्वादीनां विशुद्धानां लौकिकोऽर्थो न विद्यते।
कृत्ताद्धितानामर्थश्च केवलामामलौकिकः॥
प्राग् विभक्तेस्तदन्तस्य तथैवाऽर्थो न विद्यते॥

—वा० प०, २।२१२-२१३।

गया। यह भी एक सौभाग्य की ही बात थी कि आनन्दवर्धन के उत्तराधिकारी अभिनवगुप्त एवं मम्मट जैसे उत्कृष्ट समीक्षक कश्मीर की परम्परा के आचार्य थे। व्यंजनासिद्धान्त के प्रचार-प्रसार में इन सभी आचार्यों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह तो किया किन्तु अपने मत के उपस्थापन में वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त की भी पूर्ण उपेक्षा कर दी। व्याकरण-शास्त्र में जिस स्फोटात्मक शब्द को ध्वनि से व्यंग्य माना गया उसी शब्द को इन साहित्यशास्त्रियों ने व्यंजक बता दिया। इतने पर्याप्त अन्तर के रहते हुए भी ये समालोचक वैयाकरणों से स्वमत समर्थन की आशा ही नहीं अपितु अपनी चाटुक्तियों से नागेशभट्ट जैसे उत्कृष्ट आचार्य को वशीभूत बना लेते हैं।

तात्पर्यवृत्ति व्यंजनावृत्ति के समान नूतन आविष्कार नहीं है। निष्कर्षभूत अर्थ का अवबोध इसी वृत्ति के द्वारा करना संगत है। तात्पर्यार्थ के ज्ञाता व्यक्ति को प्रतिभाशाली कहा जाता है और न जानने वाले को मूर्ख। मम्मट ने भी इस शब्द का प्रयोग इसी अभिप्राय से किया है[1]।

तात्पर्यशक्ति का जीर्णोद्धार

काव्यशास्त्र में तात्पर्यवृत्ति की मान्यता स्वीकार कर लेने पर केवल दर्शनान्तरीय मतों से सामंजस्य ही नहीं स्थापित होगा, अपितु विशेष लाघव भी होगा। संसर्गांश की प्रतीति के लिये जिस तात्पर्यवृत्ति को मम्मट ने माना है, उसी को वक्त्रभिप्रायबोधिका मान कर व्यंग्यार्थ बोध के लिये भी उपयोगी बताया जा सकता है। इस स्थिति में व्यंजनावृत्ति नितराम् अनावश्यक सिद्ध हो जाती है।

जहाँ तक "गंगायां घोषः" इत्यादि स्थलों में एक ही साथ तात्पर्यवृत्ति द्वारा तीर एवं शैत्यपावनत्व रूप अर्थों की प्रतीति कराने से "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य-व्यापाराभावः" इस न्याय के विरोध का प्रश्न है, इसे भी समाहित किया जा सकता है। उक्त न्याय का विरोध वहीं पर होता है जहाँ एक ही वृत्ति का प्रयोग यौगपद्येन किया जाता है। एक ही स्थल में एक ही वृत्ति से, क्रमिक रूप से अर्थद्वय की प्रतीति तो मानी ही जाती है[2]।

---

१. तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानांप्रियाः।

का० प्र०, पं० उ०, वृत्तिभाग।

२. वै० सि० मंजूषा, लक्षणा प्रकरण।

क्रमिक अर्थावबोध स्थल में भी उक्त न्याय का अस्तित्व मान लेने पर तो व्यंजनावादियों के समक्ष भी समस्या खड़ी हो जाती है। अभिधा द्वारा अर्थज्ञान करा देने के बाद तो शब्द का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा, पुनः उसी शब्द से लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ का बोध कैसे हो सकेगा ? अतः उक्त न्याय का विरोध यौगपद्येन बोध स्थल में ही मानना चाहिये।

अभिधावृति का क्षेत्र संकेतित अर्थ ही है। अतः तात्पर्यार्थ के अवगमन के लिए अभिधाशक्ति का सामर्थ्य नहीं हो सकता। तात्पर्यार्थ संकेतित अर्थ से भिन्न होता है।

बौद्धार्थवादी वैयाकरणों के अनुसार शब्दार्थ में अभेद है।[1] दोनों में भेद प्रतीति तो आरोपित ही होती है। व्यंग्य-व्यंजक भाव सर्वथा भिन्न वस्तुओं में ही सम्भव हो पाता है। शब्दार्थ में व्यंजनाव्यापार को मान लेने पर इनमें अभेद प्रतिपादन संगत न हो सकेगा। शब्द एवं अर्थ दोनों का मन में सहावस्थान रहता है। अतएव अभिप्राय विशेष का प्रतीति के लिए उच्चरित शब्द से बोद्धा को अर्थ का तत्काल अवभास हो जाता है।

वाक्य के सारभूत तत्त्व को तात्पर्यार्थ मानने में किसी शास्त्रकार को वैमत्य नहीं हो सकता। किन्तु यदि उसी को व्यंग्यार्थ शब्द से अभिहित कर दिया जाय तो व्यंजनावादियों के अलावा उसे किसी भी अन्य आचार्य का समर्थन नहीं प्राप्त हो सकता। तात्पर्य शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में पूर्वाचार्यों ने किया है उसी अर्थ की बोधिका तात्पर्यवृत्ति काव्यशास्त्र में अवतरित की गयी किन्तु व्यंजनाव्यापार का प्रयोग मनमाने अर्थ को लेकर कर दिया गया।

रसावबोध प्रक्रिया के लिए व्यंजनाव्यापार असमर्थ सिद्ध हो जाता है। भाव्य-भावक सम्बन्धमूलिका तात्पर्यवृत्ति की ही इसके सम्बन्ध में उपयोगिता सिद्ध हो सकती है। विभावादिक का साधारणीकरण भावकत्व व्यापार द्वारा ही सम्भव है, व्यंजकत्व व्यापार द्वारा नहीं। भावकत्व व्यापार विभावादिक को साधारणीकृत करता हुआ सहृदय को कविविवक्षित अर्थ के साथ तादात्म्यीकृत भी करता है।

व्यंजनाव्यापार की मान्यता शब्दशास्त्रियों द्वारा किसी भी रूप में स्वीकार तक नहीं की गयी है। अलंकार-शास्त्र में भी इसके समर्थक मात्र ध्वनिसम्प्रदाय-

---

१. वस्तुतो बौद्ध एवार्थः शक्यः, पदमपि बौद्धं, तयोरभेदः।

—वै० सि० म०, श० प्र०

वादी कतिपय आचार्य ही हैं। जिस रमणीयार्थ बोध के लिए आनन्दवर्धन ने व्यंजनाव्यापार का आविष्कार किया इसके सम्बन्ध में पूर्ववर्ती सभी आचार्य मौन से है। अतः व्यंजना का समर्थन न तो दर्शनान्तर से प्राप्त होता है और न तो प्राचीन साहित्यशास्त्र से ही।

व्यंजनाव्यापार की स्थापना मात्र प्रचार-प्रसार के बल पर ही हुई। इस अतिनूतन सिद्धान्त के समर्थन में ही आनन्दवर्धनोत्तर प्रायः उत्कृष्ट आचार्य प्रवृत्त हो गये। संस्कृतसाहित्य का समालोचनाशास्त्र व्यंजनाव्यापार के अन्वेषण के साथ ही अपनी क्रियाशीलता परिसमाप्त कर बैठा। फलतः आचार्यों ने अपनी समूची शक्ति का उपयोग पिष्टपेषण में ही करना प्रारम्भ कर दिया। दूसरी ओर कुछ आचार्यों ने व्यंजना विरोध में यदि कुछ तथ्यों का उद्घाटन भी करना चाहा तो उनके समर्थन के लिए किसी भी समालोचक ने अपनी तत्परता न दिखायी। परिणाम यह हुआ कि वैयाकरणों की झूठी दुहाई देते हुए व्यंजनावादी इस सिद्धान्त को समूचे काव्यशास्त्र में दृढ़रूप से व्यवस्थापित करने में समर्थ हो सके।

तात्पर्यवृत्ति व्यंजनावृत्ति से पर्याप्त प्राचीन होने के साथ-साथ नितान्त उपयोगी वृत्ति है। इसका सर्वजनबोध्यस्वरूप लोक एवं शास्त्र दोनों के सारभूत तत्त्व को समाहृत करता है। इसकी साहित्यशास्त्र में पुनः स्थापना होने से सर्वशास्त्रीय सिद्धान्त समन्वय की काव्यशास्त्र विषयक मान्यता भी परिपुष्ट होती है। जिस प्रकार काव्यशास्त्र समीक्षकों ने अपनी मान्यताओं को सम्पूर्ण इतरशास्त्रों से समन्वित बनाते हुए उन्हें सर्वग्राह्य सिद्ध करने का प्रयास किया है, उसी प्रकार की स्थिति बनाये रखने के लिए व्यंजनावृत्ति के स्थान पर अब तात्पर्यवृत्ति की पुनः स्थापना आवश्यक है।

व्यंजनावृत्ति की स्थापना जितनी भावुकता पर निर्भर है, उतनी तर्क एवं युक्तियों पर नहीं। शास्त्र के लिय तर्क एवं युक्तियों का ही महत्त्व है।

जिस प्रतीयमान की गम्यमानता ध्वनिवादियों के अनुसार व्यंजना पर आधा- है, उसी की प्रतीति तात्पर्यवादी तात्पर्यवृत्ति द्वारा करते हैं और उसे तात्पर्यार्थ मानते हैं। व्याकरणवादी ध्वनिवादी जिसे व्यंग्यार्थ कहता है, वही तो मीमांसक सिद्धान्त के पोषक आचार्यों का तात्पर्यार्थ है। जिस प्रकार ध्वनिसिद्धान्त का मूल उद्गम व्याकरणशास्त्र होने पर भी इसका काव्यशास्त्रीय स्वरूप ध्वनिवादी व्याख्याकारों ने निर्धारित किया, उसी प्रकार मीमांसकों की तात्पर्यवृत्ति साहित्य-शास्त्र में तात्पर्यवादियों द्वारा परिष्कृत रूप में प्रस्तुत की गई। तात्पर्यवादियों की

यह तात्पर्यवृत्ति क्रिया कारक संसर्गरूप वाक्यार्थ के साथ वक्ता के अभीष्ट अर्थ की प्रतीति कराने में अपना सामर्थ्य स्थापित करती है।

व्यंजनावृत्ति की अपेक्षा तात्पर्यवृत्ति पर्याप्त प्राचीन है। काव्य के रमणीयार्थ के प्रत्यायन में यह वृत्ति पूर्ण सक्षम है। जिस प्रकार अपदार्थ भी संसर्गांश इस वृत्ति का विषय माना जा सकता है उसी प्रकार तात्पर्याविषयीभूत अर्थ अपदार्थ होता हुआ भी इसी वृत्ति से बोध्य हो सकता है।

तात्पर्यवादी समीक्षक अन्वयांश बोधिका तात्पर्यवृत्ति का ही विस्तार करके उसी से रमणीयार्थ का बोधन स्वीकार करते हैं। रमणीयार्थ की प्रतीति कराने के लिए इस वृत्ति का सामार्थ्य होते हुए भी इसकी उपेक्षा करना और व्याकरण-शास्त्र की कल्पना करना निश्चय ही गुरुभूत मार्ग का अनुसरण करना है। अति-प्राचीन तात्पर्यवृत्ति को छोड़कर काव्यशास्त्र में नूतन व्यंजनाव्यापार का आविष्कार मात्र व्याकरणशास्त्र के प्रति भक्ति प्रदर्शन ही प्रकट करता है।

जिस प्रकार काव्य-समीक्षकों ने व्यंजना व्यापार की अनुपयोगिता का प्रतिपादन किया है उस प्रकार तात्पर्यवृत्ति का विरोध किसी भी आचार्य ने नहीं किया है। महिमभट्ट ने तात्पर्यवृत्ति का खण्डन किया है किन्तु उन्होंने लक्षणा को भी नहीं माना है। शब्द में एक मात्र अभिधा व्यापार की सत्ता सिद्ध करने वाले आचार्य का मत सार्वजनीन कैसे हो सकता है? व्यंजनावृत्ति व्याकरणशास्त्र के स्फोटसिद्धान्त से प्रभावित है। स्फोट-सिद्धान्त सर्वसम्मत सिद्धान्त नहीं है अतः तदाधारित व्यंजनावृत्ति भी सर्वसम्मत नहीं हो सकती।

तात्पर्यवृत्ति सर्वसम्मत वृत्ति है अतः काव्यशास्त्र में व्यंजना के स्थान पर इसकी पुनः स्थापना उचित होगी। इतनी पुरातन एवं सर्वसमर्थितवृत्ति का समालोचना शास्त्र में प्रचलन इसीलिये नहीं हो सका कि उद्‌भट समीक्षकों के ग्रन्थ कालकवलित हो गये। इसके बारे में स्वतन्त्रग्रन्थों का अभाव काव्यशास्त्रीयों के उपेक्षाभाव को ही प्रकट करता है। ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के पूर्व जिस व्यंजनाव्यापार का लोग नाम तक नहीं जानते थे, उसे अतिसमादर मिला। किन्तु तात्पर्यवृत्ति का जितना सीधा सम्पर्क मीमांसाशास्त्र से स्थापित हो जाता है उतना व्यंजनावृत्ति का व्याकरणशास्त्र से नहीं हो पाता। तात्पर्यवृत्ति के समर्थक किसी न किसी रूप में नैयायिक एवं वैयाकरण भी हैं।

परिशिष्ट

(क) तात्पर्यशक्ति समर्थक प्रमुख आचार्यसूची

क्रम सं० नाम	समय	तात्पर्यशक्तिबोधक रचनाएँ
१—शबरस्वामी	ईसापूर्व द्वितीय शती	शाबरभाष्य
२ – पातंजलि	ईसापूर्व द्वितीय शती का मध्यभाग।	महाभाष्य
३—कुमारिलभट्ट	छठीं शताब्दी	श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक
४—पार्थसारथिमिश्र	दशम शतक	शास्त्रदीपिका, न्यायरत्नमाला
५—धनंजय	दशवीं शती	दशरूपक
६—धनिक	दशवीं शती	दशरूपक अवलोक काव्यनिर्णय (अनुपलब्ध)
७—भोज	ग्यारहवीं शती का प्रथमार्ध	श्रृंगारप्रकाश
८—रुय्यक	बारहवीं शती का मध्यभाग	साहित्यमीमांसा
९ – शारदातनय	तेरहवीं शती का मध्यभाग	भावप्रकाशन
१०–विश्वनाथभट्टाचार्य	सत्रहवीं शती	न्यायसिद्धान्त मुक्तावली।

(ख) व्यंजनाशक्ति समर्थक प्रमुख आचार्यसूची

		व्यंजनाशक्तिबोधक रचना-
१—आनन्दवर्धन	नवमशताब्दी का मध्यभाग	ध्वन्यालोक।
२ – अभिनवगुप्त	एकादश का प्रारम्भ	ध्वन्यालोक, लोचन
३—मम्मट	ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध	काव्यप्रकाश
४— कविराज विश्वनाथ	चौदहवीं शती	साहित्यदर्पण
५— पण्डित राजजगन्नाथ	सत्रहवीं शती का मध्यभाग	रसगंगाधर
६—नागेशभट्ट	अठारहवीं का पूर्वार्ध	वैयाकरण - सिद्धान्त लघु मंजूषा।

(ग) सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१—अष्टाध्यायी	पाणिनि	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
२—अभिधावृत्तिमातृका	मुकुलभट्ट	इन्द्रप्रकाशन दिल्ली १९७७

३—आनन्दवर्धन	डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी	मध्यप्रदेश हिन्दीग्रन्थ अकादमी प्रथम १९७२
४—औचित्य विचार चर्चा	क्षेमेन्द्र	काव्यमाला प्रकाशन
५—काव्यप्रकाश (विश्वेश्वर)	मम्मट	ज्ञानमण्डल, वाराणसी १९६०
६—काव्यप्रकाश (वामनाचार्य)	मम्मट	भण्डारकर प्राच्यविद्या संस्थान, पूना, १९५०
७—काव्यप्रकाश (विवरण-टीका)	मम्मट	संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी १९६१
८—काव्यमीमांसा	राजशेखर	ओरियण्टल इन्स्टट्यूट, बड़ौदा १९३४
९—काव्यालंकार	भामह	चौखम्बा, वाराणसी १९२८
१०—काव्यादर्श	दण्डी	काशी सं० १९८८
११—काव्यालंकार	रुद्रट	निर्णय सागर प्रेस बम्बई प्रथम
१२—काव्यालंकारसार संग्रह	उद्भट	वही, प्रथम
१३—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति	वामन	वही, १९५३
१४—चित्रमीमांसा	अप्पयदीक्षित	काव्यमाला प्रकाशन
१५—जैमिनीसूत्र	जैमिनी	पूना १९२९
१६—तन्त्रवार्तिक	कुमारिलभट्ट	बनारस १९०३
१७—दशरूपक	धनञ्जय	चौखम्बा विद्याभवन पंचम, १९७६
१८—ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन	मोतीलाल बनारसीदास प्रथम, १९६३
१९—ध्वन्यालोक (लोचन)	आनन्दवर्धन	मोतीलाल बनारसीदास
२०—ध्वनिसिद्धान्त एवं विरोधी सम्प्रदाय	डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डेय	बसुमती प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम, १९७२
२१—ध्वनिसिद्धान्त और उसके सम्प्रदाय	डॉ० भोलाशंकर व्यास	नागरी प्रचारिणी सभा काशी प्रथम, सं० २०१३
२२—निरुक्त	यास्क	
२३—न्यायदर्शन	गौतम	चौखम्बा संस्कृत सिरीज १९७०
२४—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली	विश्वनाथ पंचानन	वही, द्वितीय, १९६२
२५—नाट्यशास्त्र (भाग-१)	भरत (सं० डा०-रघुवंश)	मोतीलाल बनारसीदास प्रथम, १९६४

२६—न्यायरत्नमाला	पार्थसारथि मिश्र सं० सुब्रह्मण्यशास्त्री)	काशी हिन्दूविश्वविद्यालय तृतीय, १९७२
२७—न्यायमंजरी	जयन्तभट्ट	चौखम्बा संस्कृत संस्थान द्वितीय, १९७१
२८—न्यायबिन्दु	धर्मकीर्ति	बनारस १९५४
२९—न्यायभाष्य	वात्स्यायन	काशी १९२५
३०—न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका	वाचस्पति मिश्र	काशी सं० १९५४
३१—नैषधीय चरित	श्रीहर्ष	वाराणसी
३२—पाणिनीय व्याकरणे-प्रमाणसमीक्षा	डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी	संस्कृत वि० वि० वाराणसी प्रथम, १९७२
३३—प्रकरण पंचिका	प्रभाकर भट्ट	काशी हिन्दू वि० वि० १९६१
३४—पाणिनीय शिक्षा	पाणिनिशिष्यप्रणीत	काशी सं० १९९०
३५—प्रमाणवार्तिक	धर्मकीर्ति	पटना १९५३
३६—भारतीय दर्शन	डॉ० उमेश मिश्रा	सूचना विभाग, उ० प्र० द्वितीय, १९६४
३७—भावप्रकाशन	शारदातनय	ओरियण्टल इन्स्टट्यूट बड़ौदा १९३०
३८—भाषातत्त्व और वाक्य पदीय	डॉ० सत्यकाम वर्मा	
३९—महाभाष्य	पतंजलि	काशी सं० १९९५
४०—मानमेय प्रकाशिका	हरिजीवनदास शास्त्री	बम्बई १९४९
४१—मीमांसादर्शन	शबर स्वामी	आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९५३
४२—मीमांसाश्लोकवार्तिक	पार्थसारथिमिश्र	चौखम्बा संस्कृत सिरीज
४३—रसगंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ	चौखम्बाभवन, तृतीय, सं० २०२७
४४—वैयाकरसिद्धान्तमंजूषा	नागेशभट्ट	चौखम्बा संस्कृत सिरीज
४५—व्युत्पत्तिवाद (सादर्श)	गदाधरभट्ट	वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई सं० १९७०
४६—वक्रोक्ति जीवित	कुन्तक	आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली
४७—व्यक्तिविवेक	महिमभट्ट	चौखम्भा संस्कृत सिरीज १९६४

४८—व्युत्पत्तिवाद (जयाटीका)	गदाधरभट्ट	इलाहाबाद तृतीय, १९५२
४९—वैयाकरण भूषणसार	कौण्डभट्ट	बनारस १९४७
५०—वाक्यपदीय	भर्तृहरि	काशी १९२८
५१—वेदान्तपरिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र	वाराणसी १९६७
५२—शक्तिवाद (सादर्श)	गदाधरभट्ट	वेंकटेश्वर मुद्रालय, बम्बई सं० १९७०
५३—शास्त्रदीपिका	पार्थसारथीमिश्र	चौखम्भा संस्कृत सिरीज
५४—शृंगार प्रकाश	भोजराज	मैसूर १९५६
५५—स्वतंत्र कलाशास्त्र	डॉ० कान्तिचन्द पाण्डेय	चौखम्भा प्रकाशन प्रथम, १९६७
५६—साहित्यदर्पण (हरिदासी टीका)	विश्वनाथ	कलकत्ता चतुर्थ, सं० १८६७
५७ संस्कृत आलोचना	आचार्य बलदेव उपाध्याय	सूचना विभाग, उ० प्र० प्रथम, १९५७
५८—संस्कृतशास्त्रों का इतिहास	वही,	शारदामंदिर, वाराणसी प्रथम, १९७०
५९ संस्कृत का व्यशास्त्र का इतिहास	वी० पी० काणे (अनु० डॉ० इन्द्र-चन्द्रशास्त्री)	मोतीलाल बनारसीदास १९६६
६०—सर्वदर्शनसंग्रह	मध्वाचार्य	बम्बई सं १९८२
६१—सर्वार्थसिद्धि	स्वामी कारपात्री	कोल्हापुर शक १८२५
1. Appaya Dikshit to Indian Poetics	Dr. Anant Lal Gang-opadhyaya	Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta Ist, 1971
2. Bhojas Sringar Prakash	Dr. V. Raghavan	Punarvasu, Madras, 1963–14
3. History of Sanskrit Poetics,	Dr. S. K. De	IInd ed. 1960
4. Philosophy of word and meaning	Dr. Gauri Nath Shastri	
5. Philosophy of Sanskrit Grammer	Chakravarty	

6.	Purva-Mimamsa and its Sources	Dr. Ganga Nath Jha	Banaras Hindu University IInd ed. 1964.
7.	Rasa and Dhavai	Dr. Shankaran	
8.	Some Concepts of the Alankara Shastra	Dr. V. Raghavan	
9.	Sanskrit poetics as study of Aesthetic	Dr. S. K. De	Bombay, oxford university press 1963
10	Sanskrit Drama.	A. B. Keith	
11.	The Dhdvanya loka and its moorthy critics	Dr. K. Krishna	Karyalaya publishers.

कोषग्रन्थ

१—संस्कृत हिन्दी कोष	वामनशिवराज आप्टे	मोतीलाल बनारसीदास	१९६६
२—अमरकोष (रामाश्रमी)	अमरसिंह (सं० हरगोविन्द शास्त्री)	चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी	१९७०
३—अंग्रेजी हिन्दी कोश	कामिल बुल्क	काथलिक प्रेस, राँची	१९७१
४—नालन्दाविशाल शब्दसागर	सं० श्री नवल जी	दिल्ली	प्रथम
५—हिन्दी साहित्यकोष	डॉ० धीरेन्द्रवर्मा (प्रधान सं०)		